॥ ओ३म् ॥

वैदिक--अध्यात्म

—लेखक—

श्री पं० वीरसेन वेदश्रमी

—प्रकाशक—

ज न - ज्ञा न - प्र का श न
नई दिल्ली-५

दूरभाष ५६६६३

जन-ज्ञान-प्रकाशन
१५९७ हरध्यानसिंह मार्ग
नई दिल्ली—५

संपादक—
राकेश रानी

मूल्य ७५ पैसे

मुद्रक :
सैनी प्रिण्टर्स
देहली-६

ज्येष्ठ
संवत् २०२९

अपनी ओर से......

अँधेरे में प्रकाश के लिए जैसे दीपक की आवश्यकता होती है वैसे ही मन मंदिर का अंधकार मिटाने के लिए प्रभु के प्रकाश की।

प्रभु का प्रकाश शरीर ग्रहण नहीं कर सकता, न वह इन्द्रियों से देखा जा सकता है। उसे तो 'आत्मा' ही देख सकता है।

'आत्मा' जो अधिष्ठाता है शरीर का, जो प्राण है वह निरावरण हो जब अपने स्वरूप को अनुभव करने की स्थिति में होता है तब परमात्मा का प्रकाश उसे ज्योति से भर देता है।

अध्यात्म नाम है उस मार्ग का, जिसमें आत्मा और परमात्मा के मध्य के सभी आवरण समाप्त हो जाते हैं। प्रभु से मिलने का एक मात्र मार्ग है अपने को जानना।

आत्म-ज्ञान से मनुष्य अपनी उस शक्ति को प्राप्त कर लेता है जिस से इस देह में रहते हुए भी वह परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर सके।

घने कुहरे और बादलों से सत्य ढक जाता है। अमृत विष और विष अमृत प्रतीत होने लगता है। सुख-दुःख में भेद समझ नहीं आता, इसी को अज्ञान कहते हैं।

धर्म भी वही है जो मनुष्य को प्रभु से मिलाए और ज्ञान का भी यही लक्ष्य है। यह सत्य मार्ग से भटका मनुष्य आज प्रकृति की उपासना में लीन आत्म हनन कर मनुष्य मार्ग छोड़ पशु बन रहा है।

"दयानन्द-संस्थान" इस पशुता और अज्ञान की समाप्ति के लिए कृत संकल्प हो प्रभु मिलन का मार्ग प्रशस्त कर धरती को स्वर्ग बनाना चाह रहा है।

इसी लक्ष्य पूर्ति हित यह लघु पुस्तक गागर में सागर भर हम भेंट कर रहे हैं। प्रभु कृपा करें कि मनुष्य के मन का तम-अज्ञान हटाने में हम सफल हों—

आशीर्वाद और शुभ कामनाओं सहित—

—भारतेन्द्र नाथ
अध्यक्ष

दयानन्द-संस्थान
नई दिल्ली-५
१.५.७२

भगवन् ! भले बुरे हम तेरे

भगवन् ! भले-बुरे हम तेरे।
द्वार तुम्हारे आये मांगते, बन्धन काटो मेरे।
भगवन् ! भले-बुरे हम तेरे ।।

तू स्वामी है जगती तल का, हम सेवक अज्ञानी।
तू है अजर अमर अविनाशी, हम मूढ़मति अभिमानी ।।
भूल तुझे सब-भटक रहे हैं, शान्ति दान अब दे रे।
भगवन् ! भले-बुरे हम तेरे।

कोटि-कोटि पापों से पूरित, मेरी जीवन गाथा।
अन्धकार में भटक रही है, जीवन तन्त्री त्राता ।।
ज्योति दिखा हे नाथ उबारो, मांग रहे नित टेरे।
भगवन् ! भले-बुरे हम तेरे ।।

ज्ञान दीप को भूल बावरे, माया पीछे धाये।
सत्य वस्तु को छोड़ भला क्या छाया कोई पाये ।।
राह दिखा हे दीन दयालु, द्वार पड़े हैं तेरे।
भगवन् ! भले-बुरे हम तेरे ।।

आज हमारी नौका डगमग, डोल रही है स्वामी।
जगत् भंवर में गोते खाता, व्यथित हुआ है प्राणी ।।
एक तुम्हारी आशा अब है, हमको सांझ-सबेरे।
भगवन् ! भले-बुरे हम तेरे ।।

जीवन सफल बनाओ भगवन् ! दो आशीश हमें तुम।
तुझमें खो दें अपनेपन को, और कहें केवल तुम ।।
जगत् उद्धारक परमपिता हो, एक सत्य ओ ! मेरे।
भगवन् ! भले-बुरे हम तेरे ।।

—राकेश रानी

तू कौन है ?

अपने को पहचानो

ओ३म् कोऽसि, कतमोऽसि, कस्यासि, कोनामाऽसि

(यजुर्वेद अ०७ । मं० २९)

तू कौन हैं, मैं कौन हूँ ? तू कौन-सा है, मैं कौन-सा हूँ ? तू किसका है, मैं किसका हूँ ? तू क्या नाम या शक्ति वाला है, मैं क्या सामर्थ्य वाला हूँ ? यही अध्यात्मविषयक विवेचन वेद ने महान् प्रश्नों के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित कर दिया है। इन प्रश्नों को निरन्तर अपने में जागृत करते हुए, इनका समुचित समाधान या उत्तर प्राप्त करना ही अध्यात्म विद्या है।

परमात्मा को भी पहचानो

अध्यात्म विद्या सम्बन्धी इन्हीं प्रश्नों से अपनी खोज, अपने अन्दर की शक्तियों की खोज और आत्मा की खोज भी प्रारम्भ होती है। आत्मा की खोज करने पर उसके सामने फिर प्रश्न होने लगता है :—

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः ।
कोऽहमस्मिन्नसिश्रितः ॥

(ऋग्वेद मं० १ । सू० ७५ । मं० ३)

आत्मान्वेषक विद्वन् ! मनुष्यों के बीच आपका कौन निश्चय करके जानने वाला है ? कौन दान देने और रक्षा करने वाला है ? तू कौन है और किसके आश्रित है ? इन प्रश्नों पर विचार करें।

अर्थात् मनुष्य अपने को ही सब कुछ न समझ बैठे। इसका जानने वाला कोई और भी है जिसको जानें बिना मनुष्य में अपूर्णता रह जायेगी। इस मनुष्य को सब ऐश्वर्य और ज्ञान का दाता कोई और है। जो यह सब हमें देने वाला है, वास्तव में हम उसके सामने याचक हैं। वह हमारी रक्षा करने वाला एवं पालन करने वाला है। हम सब उसी के आश्रित हैं। उस महान् आश्रयदाता को, महान् ज्ञानी को जब तक नहीं जानोगे तब तक सब ज्ञान-विज्ञान अधूरा ही रहेगा। जब तक उस महान् प्रभु को नहीं जानोगे प्रश्नों की बौछारें सदा पड़ती ही रहेंगी। जब उसको जान लोगे तब सब प्रश्न समाप्त हो जायेंगे। अतः वेद ने इन प्रश्नों द्वारा मनुष्य को अपने को एवं परमात्मा को भी जानने की प्रेरणा दी है।

अध्यात्म पक्ष

अध्यात्म विद्या वेद का प्रमुख अंग है। अध्यात्म में आत्मा और परमात्मा का विवेचन, आत्मा जिस अंतःकरण चतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के आधार पर कार्य करता है तथा मन बुद्धि आदि जिन इन्द्रियों के आश्रित व्यापार करते है एवं इन्द्रियां जिस शरीर के आश्रित होकर व्यापार करती हैं सब अध्यात्म के अन्तर्गत हैं तथा शरीर अपने समस्त अधिष्ठानों से जिस क्षेत्र में व्यापार करता है वह उस अध्यात्म पक्ष का आधिदैवत क्षेत्र है।

आधिदैवत पक्ष

सृष्टि निर्माण में, सृष्टि की स्थिति एवं प्रलय में परमात्मतत्त्व की जो विविध शक्तियां क्रियाशील होती हैं और उनका प्रकृति के माध्यम या साहचर्य से जो अव्यक्त, सूक्ष्म एवं स्थूलरूप प्रकट होता है उसमें परमात्मा की विविध सामर्थ्य का प्रकारांतर से अनेक रूपों में दर्शन होता है। उनकी अपनी एक विशेष स्थिति दिव्यता के कारण गुणवैशिष्ट्य से होती है। गुण वैशिष्ट्य या अपनी-अपनी दिव्यता से विविधरूप में प्रतीयमान पदार्थ ही वेद की परिभाषा में देवतावाची होते हैं। अतः समस्त ब्रह्माण्ड दैवतमय है इसलिये ब्रह्माण्ड

को परमात्मा के साथ दैत्रात्मक स्थिति को आधिदैवत कहा जाता है।

अध्यात्म और आधिदैवत का सम्बन्ध

इस अध्यात्म क्षेत्र का और आधिदैवत क्षेत्र का परस्पर सहयोग है। आधिदैविक तत्त्व अध्यात्म के लिए उपभोग्य रूप में है और अध्यात्म क्षेत्र उपभोक्ता है, तथापि आधिदैविक तत्त्व अध्यात्म में उपभोक्ता रूप में भी अधिष्ठित हो जाते हैं। इसी स्थिति को पिंड और ब्रह्माण्ड नाम से कहा जाता है।

ब्रह्माण्ड और पिंड परस्पर ग्रथित हैं। विशाल ब्रह्माण्ड की समस्त शक्तियों से यह पिण्ड निर्मित होता है। कारण का गुणकार्य में आना स्वाभाविक है, अतः इस पिण्ड के यथार्थ ज्ञान से ब्रह्माण्ड का ज्ञान सुगम हो जाता है। इसलिए समस्त ब्रह्माण्ड के ज्ञान की कुंजी या नाभि यह मानव शरीर है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड का साम्य

पिण्ड और ब्रह्माण्ड के इस उभयपक्ष की रचना में साम्य का प्रदर्शक एक मंत्र वेद में निम्न प्रकार आता है।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥

(यजुर्वेद अ० ३१। मं० १५)

ब्रह्माण्ड पक्ष में इस ब्रह्माण्ड के चारों ओर सात परिधियां हैं। सप्त लोक ही सप्त परिधियाँ हैं। इन सात परिधियों से ब्रह्माण्ड की प्रत्येक रचना अपने केन्द्र एवं नियमित व्यवहार में स्थित है। इन परिधियों से ब्रह्माण्ड आवृत्त है। इन सप्तलोकों की परिधियों के अन्दर सप्त प्राण, सप्त ऋषि और सप्त आपः की इक्कीस समिधायें प्रदीप्त होकर इस विश्व का संचालन कर रही हैं।

अध्यात्म पक्ष में इस देह की सात परिधियाँ सप्त त्वचाओं की हैं, जिनके नाम ऊपर से अन्दर तक क्रमशः निम्न हैं
(१) अवभासिनी (२) लोहिता (३) श्वेता (४) ताम्रा, (५) वेदिनी (६) रोहिणी (७) मांसधरा।

इन्हीं सात त्वचाओं से इस शरीर के सब अवयव आवृत्त हैं।

भेद के आधार पर ही महर्षि सुश्रुत ने 'सप्तत्वचो भवन्ति' का अपने शिष्यों को प्रत्यक्ष कराया और उनके कार्यों को यथावत् जानकर उनको उपरोक्त नामों से सम्बोधित किया।

इस आवरण या इन परिधियों के अन्दर शरीर के संगठन एवं कार्य संचालन के लिए तीन-तीन के समूह में सात-सात समिधायें हैं। जिस प्रकार समिधाओं से यज्ञाग्नि का रूप प्रकट होता है, उसी प्रकार शरीर रूपी यज्ञ निम्न इक्कीस समिधाओं से समिद्ध हो रहा है।

सप्त धातु (१) रस (२) रक्त (३) माँस (४) मेदा (५) अस्थि (६) मज्जा एवं (७) शुक्र।

(२) सप्त कला (१) माँसधरा (२) रक्तधरा (३) मेदोधरा (४) श्लेष्मधरा (५) पुरीषधरा (६) पित्तधरा एवं (७) शुक्रधरा।

(३) सप्त आशय (१) आमाशय (२) पित्ताशय (३) पक्वाशय (४) मूत्राशय (५) रक्ताशय (६) वाताशय (७) कफाशय।

इन समिधाओं द्वारा इस शरीर में जानने योग्य पुरुष को इन्द्रियादि देवों ने कार्यक्षम बना रखा है। इसके अतिरिक्त पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, एक मन तथा दस प्राणरूपी इन कुल इक्कीस समिधाओं से भी शरीर का कार्य संचालित होता रहता है।

अध्यात्म से आधिदैविक रचना

एक अन्य मंत्र में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध को और भी दृढ़ रूप से निम्न प्रकार प्रकट किया गया है :

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥

(यजुः अ० ३१ । मं० १२)

अर्थात् मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति, चक्षु-दर्शन सामर्थ्य से सूर्य की उत्पत्ति, श्रोत्रसामर्थ्य से वायु और आकाश प्रदेश से जीवन निमित्त १० प्राण और मुख सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुई।

इस प्रकार आधिदैविक रूप से अग्नि मुख में वाक् होकर, सूर्य

चक्षु रूप से नेत्रों में, वायु और आकाश त्वचा एवं कान में, जल रेत रूप होकर शिश्न में, चन्द्रमा मन होकर हृदय में, पृथिवी गन्ध होकर नासिका में प्रविष्ट हो गई तथा

नाभ्या आसीदन्तरिक्ष ँ शीर्ष्णोद्यौः समवर्त्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रातथा लोकां २ ।। अकल्पयन् ।।

(यजुः अ० ३१ । मं० १३)

अर्थात् नाभि से अन्तरिक्ष लोक स्थित हुआ, शिर से द्युलोक प्रतिष्ठित हुआ, पैरों से भूलोक प्रतिष्ठित हुआ और श्रोतों से दिशा तथा अन्य लोक प्रतिष्ठित हुए।

अध्यात्म में आधिदैवत का प्रवेश

स्थिति को निम्न वेद मन्त्र में बताया गया है :—

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।
ओतौ म इन्द्राग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति ।।

(अथर्व कां ५ । सू० २३ । मं० १)

अर्थात् जब तक इस शरीर में कृमि-सूक्ष्माणुओं-सेलों के पाचन या विरोधी शक्तियों को नष्ट करने की सामर्थ्य द्वारा जीवन है तो इस शरीर में द्युलोक, पृथिवीलोक, वाणी, क्रियाशील प्राण तथा अग्नि आदि तत्त्व और आत्मा भी ओतप्रोत रहता है।

इसी को वेद में निम्न प्रकार भी कहा है :—

"अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्"

(यजुः अ० ७ । मं० ५)

तेरे अन्दर द्युलोक और पृथिवीलोक स्थापित करता हूं। तेरे अन्दर महान् अन्तरिक्ष को भी स्थापित करता हूँ। इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि वेद में हमें यह बताया है कि इस देह में, इस पिण्ड में सब ब्रह्माण्ड की शक्तियाँ प्रतिनिधिवत् भी कार्य कर रही हैं।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि परमात्मा की प्रेरणा द्वारा सूर्य ने अपनी दर्शन शक्ति, चन्द्रमा ने अपनी मनन शक्ति, दिशाओं ने श्रोत्र शक्ति, वायु ने स्पर्श शक्ति, पृथिवी ने घ्राण शक्ति, जल ने रसना शक्ति, अग्नि ने रूप शक्ति से सम्पन्न करके इस देह की रचना की

है तथा ये सब तत्त्व स्वयं भी इसमें प्रतिष्ठित होकर इस मानव देह की सुन्दर, अद्भुत और पूर्ण रचना की महत्ता प्रकट कर रहे हैं।

मानव देह से परब्रह्म की साधना

संसार के रहस्यों को जानने की इस शरीर में अद्भुत सामर्थ्य है। यदि इस शरीर के स्वामी को ही जान लिया तो उसे विश्व का सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसीलिए वेद कहते हैं :

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्"

(यजु: अ० ३१, मं० २)

यह सब कुछ जो दीख रहा है, जो कुछ देखा था और जो कुछ देखा जायेगा, तीनों कालों की स्थिति में वह पुरुष ही पुरुष है। अर्थात् पिण्डस्थ पुरुष का तथा ब्रह्माण्डरूपी विराट् शरीर में निवास करने वाले परमपुरुष का ज्ञान ही सब ज्ञानों की पराकाष्ठा है। इस निमित्त यदि इस देह को साधन बनाकर इसमें उसके दर्शन या ज्ञान को प्राप्त कर लिया, तो ब्रह्माण्ड में स्थित परमपुरुष का भी ज्ञान एवं उसकी प्राप्ति हो जायेगी।

मानव देह में देवों का प्रवेश

रेतः आज्यं कृत्वा देवाः पुरुषमाविशन्।

(अथर्व कां० ११। सूक्त २। मं० २६)

इस शरीररूपी यज्ञशाला में विश्व की देवमण्डली ने वीर्य को—उत्पत्ति के उपादान तत्त्व—को तेजस एवं हव्य बनाकर उसमें प्रवेश किया हुआ है। रेतस् के माध्यम से सब देवों का प्रवेश बताता है कि उत्पत्ति के मूल तत्त्व में ही देवताओं का भी बीज रूप से निवास है। अतः पुरुष में सब देव रहते हैं, यह ज्ञात हो जाता है।

उस रेतस् के ऊर्ध्वगमनशील भाग से सोम का निर्माण होता रहता है। सोम ही ओज है। उस सोम से देवों की पुष्टि होती रहती है। यदि रेतस् का सोम या ओज नहीं बनेगा तो शरीरस्थ इन्द्रियां सशक्त नहीं होंगी और असुर भाग की तृप्ति होती रहेगी। अतः शरीर को देवस्थली बनाने के लिए रेतस् को आज्य बनाना होगा।

इस स्थिति को वेद निम्न शब्दों में प्रकट कर रहा है :—

अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवा
सलिलान्यास न्।।

(अथर्व कां० १० । ८ । ४०)

अर्थात् जलों में प्राण वायु ने प्रवेश किया है और जल के सूक्ष्म भाग में देवों ने भी प्रवेश किया हुआ है। यही जलतत्त्व-आपौरेतो-भूत्त्वा-उत्पत्ति करता है। अतः इस देह में देवों का वास रहता है।

देवों की अयोध्यापुरी

शरीर में देवों की इस स्थिति को अन्य रूप से वेद निम्न शब्दों में कह रहा है :—

सर्वा ह्यस्मिन्देवा गावो गोष्ठ इवासते।

(अथर्व० कां० ११ । सू० २ । मं० ३२)

अर्थात् इस मानव देह में सब देव इस प्रकार स्थित हैं, जैसे गायें अपने गोष्ठ-बाड़े में बन्द रहती हैं। अतः इस दिव्य देह में देवत्व को जागृत करना आवश्यक है। इस निमित्त शरीर की अद्भुत एवं दैवी रचना का जितना अधिक ज्ञान प्राप्त होगा, उतना ही अधिक इसकी ओर रुचि बढ़ेगी। वेद ने इस शरीर की अद्भुत रचना के बारे में कहा है :—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्मिन्हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।

(अथर्व० कां० १० । सूक्त ६ । मं० ३१)

यह शरीर आठ चक्रों से युक्त है। इसके नौ द्वार हैं। देवताओं के निवास से यह अयोध्यापुरी बनी हुई है। इसमें अत्यन्त तेजस्वी, स्वर्णमय कोष है जो महान् ज्योति से—परमात्मा से—आवृत है और ज्योति की किरणें उसमें से प्रकट हो रही हैं।

अयोध्या के नवद्वार

नवद्वार इस देह के अन्दर स्थित हैं। इन नवद्वारों में सप्त द्वारों पर सप्त ऋषि बैठे हैं, जिनसे संसार के बाह्य रूप का दर्शन एवं अनुभूति का प्रवेश इस देह में होता है। परन्तु बाह्य अनुभूति का

अन्दर में प्रवेश ऋषियों के अनुरूप होगा। जिस घटना को वे जैसा महत्त्व एवं रूप देकर भीतर प्रवेश देंगे, वैसो भावना एवं विचार हमारे मन में जागृत होंगे। ये सब द्वार हमारे शरीर के श्रेष्ठ शिरो-भाग में हैं। २ नेत्र के द्वार, २ नासिका के द्वार, २ श्रोत्र के द्वार और एक मुख का द्वार है। इन सप्त द्वारों के अतिरिक्त दो द्वार और भी हैं। वे गुप्त द्वार हैं।

वेद ने इस शरीर में ८ चक्रों की स्थिति बतायी है। इन चक्रों का सम्बन्ध सुषुम्ना नाड़ी से है। सुषुम्ना का अधोमुख भाग भौतिक प्राण शक्ति के चक्रों में क्रमशः भेदन के लिये प्रवेश का द्वार है और मस्तिष्क में कपालों की मध्यसन्धि भाग में सुषुम्ना का दूसरा द्वार ब्रह्मरन्ध्र में है। ब्रह्मरन्ध्र में से दिव्य, प्रकाशमय, ज्ञानमय प्राण का शरीर में प्रवेश होता है जो सविता से इस लोक पर अवतरित होता है। वहाँ सहस्रार चक्र है। योगी जन इसी मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र से प्राणों का विसर्जन करके सूर्य मण्डल को भेदकर परम धाम को प्राप्त करते हैं। इन दोनों द्वारों के ज्ञान से ही सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश करने से अष्ट चक्रों का दर्शन एवं ज्ञान हो पाता है।

द्वारों पर सप्तर्षि

देह के इन स्थूल द्वारों पर सप्त ऋषि, दक्षिण एवं वाम कर्ण में गौतम एवं भारद्वाज, दक्षिण एवं वाम नेत्र में विश्वामित्र और जम-दग्नि, दक्षिण और वाम नासिका में वसिष्ठ एवं कश्यप और वाक् में अत्रि ऋषि विराजमान हैं। इन ऋषियों के इन द्वारों पर प्रहरी बने रहने से केवल वे ही विषय प्रवेश कर सकेंगे जिनको, ये अयोध्या में प्रवेश योग्य समझेंगे। इस प्रकार अयोध्या की सुरक्षा होने पर अयोध्या वासी प्राण, वृत्ति, मन, विचार आदि अष्ट चक्रों में विराज कर ब्रह्माण्ड के सप्त लोकों का दर्शन करके अष्टम चक्र से दिव्य, चैतन्य और सत्त्व स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं।

सप्त ऋषियों से इस देह की दिव्य स्थिति होने से यह अयोध्या नगरी बन जाती है। अयोध्या का तात्पर्य है, जिसको कोई पराजित न कर सके। अपराजित पुरी ही अयोध्या है।

सृष्टि की रचना चक्रमय है

संसार के चक्र हमें जन्म-मरण के चक्र पर आरूढ़ कर देते हैं। इन चक्रों से निवृत्त होने के लिये ही अष्ट चक्रों को परमात्मा ने इस देह में बनाया है। संसार की रचना चक्रमय है और संसार की प्रत्येक गति भी चक्रमय है। सृष्टि की सम्पूर्ण रचना चक्रवत् है एवं इसकी समस्त क्रिया भी चक्रवत् गतिमय है।

चक्र छन्दमय हैं

चक्रमय रचना एवं चक्रमय गति अपने-अपने छन्दों से सम्बन्धित है। अतः सृष्टि की सम्पूर्ण रचना एवं गति भी छन्दमय है। जब ब्रह्माण्ड ही छन्दमय है तो पिण्ड अर्थात् मानव देह की रचना भी छन्दमय होनी चाहिये। सृष्टि के अन्दर सप्त छन्द भी हैं, अष्ट छन्द भी तथा इससे भी अधिक हैं। छन्दों का अपना-अपना प्रकार है। प्रकारान्तरों से इनके भेदों की गणना भिन्न-भिन्न हो जाती है। अतः शरीर में भी सप्त एवं अष्ट छन्दमय रचना एवं गति भी सप्त चक्रों एवं अष्ट चक्रों के रूप में विद्यमान है।

अष्ट चक्रों का भेदन

वेद ने छन्दमय इन अष्ट चक्रों के भेदन का निम्न मन्त्र में उपदेश किया है—

गायत्री त्रिष्टुप् जगत्यनुष्टुप् पंक्त्या सह।
बृहत्युष्णिहा ककुम् सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥

(यजु० अ० २३। मं० ३३)

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, पंक्ति, बृहती, उष्णिक् ये सात छन्द एवं आठवें ककुम् छन्द रूप से जो शरीर में अष्ट चक्र हैं, वे सूची क्रम से भेदन किये जाने से तुझे दिव्य शान्ति प्रदान करें। प्राण की सूची एवं ध्यान के धागे से इन चक्रों का भेदन एवं परस्पर सम्पर्क ज्ञात होता है। इस प्रकार चक्रमय इन छन्दों के भेदन से दिव्य शान्ति का सन्देश वेद ने दिया।

चक्रों का स्वरूप

इन चक्रों के स्वरूप का भी वर्णन करते हुए चक्र भेदन का निम्न मन्त्र में संकेत है—

द्विपदा याश्चतुष्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः ।
विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥

(यजु० अ० २३ । मं० ३४)

पूर्वोक्त छन्द रूपी चक्र जो शरीर में हैं वे द्विपदा—द्विदलयुक्त, त्रिपदा—त्रिदलयुक्त, षट्पदा—षड्दलयुक्त हैं और कुछ समान छन्द—समान दल वाले और कुछ छन्द रहित—विषम दल वाले एवं अधिक दल वाले भी हैं। उन छन्द रूपी चक्रों का प्राण एवं ध्यान मार्ग से क्रमशः भेदन करने से परम सुख एवं शान्ति प्राप्त होती है।

ब्रह्म की प्राप्ति

इस स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् योग यज्ञ का साधक ब्रह्म को जानने लगता है, जैसा कि निम्न मन्त्र में वर्णित है—

तस्मिन् हिरण्ययेकोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्म विदो विदुः ॥

(अथर्व० कां० १० । सू० २ । मं० ३२)

उस हिरण्य कोश में जिसमें तीन अरे लगे हुए हैं और जो तीन स्थानों में प्रतिष्ठित है, उसमें जो आत्मा रूपी यक्ष है, उसको ही ब्रह्मज्ञानी योगी ब्रह्म रूप से जानते हैं। यही ब्रह्म की पुरी है। मन्त्र में जो तीन अरे बताये हैं, वे भूत, भविष्यत् एवं वर्त्तमान रूपी अरे हैं और तीन प्रतिष्ठा के स्थान, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर रूपी हैं। पुनः वेद मन्त्र कहता है :—

अपराजिता पुरी में ब्रह्म का प्रवेश

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥

(अथर्व० कां० १० । सू० २ । मं० ३३)

यह मानव देह ही ऐसी उत्तम, ऐसी सुन्दर, ऐसी महिमामयी पुरी है कि जिस प्रकार भटकती हुई हरिणी आश्रय को प्राप्त कर प्रसन्न होती है. उसी प्रकार यश से युक्त होकर ब्रह्म ने इस अपराजित और दुर्भेद्य पुरी में प्रवेश किया है। ऐसी सुन्दर देहरूपी पुरी जिसमें देवगण, ऋषिगण, इन्द्र एवं ब्रह्म भी विराजमान हों, उसमें किसी वस्तु की भी कमी नहीं। जैसे शहद के छत्ते पर मधुमक्खियाँ बैठी रस का पान करती हैं, वैसे ही अमृत से आवृत इस पुरी में देव, ऋषि एवं ब्रह्म शक्तियाँ आनन्द की प्राप्ति करती हैं। पुनः वेद कहता है कि

अमृत पुरी

यौवैतां ब्रह्मणोवेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्मश्च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥

(अथर्व० कां० १०। सू० २। मं० २६)

यह शरीर रूपी पुरी व्यापक जीवनी शक्ति से, अमृत से आवृत है। इस अमृत का पान यदि देवगण करेंगे, तो यहाँ देव भी र सकेंगे। यदि असुरों ने इसका अमृत घट प्राप्त कर लिया और उ पी गये, तो अयोध्या नगरी कैसी? अतः जो ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति इ पवित्र पुरी को जानता है, उसको इस शरीर रूपी यज्ञशाला के ब्रह्म एवं यज्ञ के देव परमात्मा चक्षु देते हैं, वास्तविक दर्शन शक्ति उनक प्राप्त होती है। उसका ही प्राण अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से जागृ रहता है और उसके वश सब इन्द्रियाँ आदि प्रजा एवं देवगण रह हैं। ऐसी पुरी का आश्रय लेकर जिसमें ब्रह्म का भी आनन्द निहि है और जो सबका सर्वोत्तम लक्ष्य है, यदि उसको प्राप्त नहीं करत तो उसका जीवन व्यर्थ है।

सृष्टि सूत्र से सूत्रधार का दर्शन

इस पुरी की रचना बड़ी सुन्दर है। विश्व में जो तत्त्व ए शक्तियाँ दृश्य एवं अदृश्य रूप से इसका संचालन कर रही हैं, उन सामर्थ्य सूत्र सर्वव्याप्त है। उसी नियम सामर्थ्य में ब्रह्माण्ड में ब्र

की प्रजा भी ओतप्रोत है। इस नियम रूपी सूक्ष्म सूत्र का दर्शन, इस सृष्टि के सूत्रधार का भी दर्शन कराने में समर्थ होता है, जैसा कि

'यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥'

(अथर्व० कां० १०। ८। ३७)

इस सृष्टि के महान् सूक्ष्मतम सूत्र, व्यापक प्राण शक्ति के स्वरूप या ऋत अर्थात् गुण, कर्म, स्वभाव का दर्शन करके तत्सम्बन्धित नियामक शक्तियों के भी नियामक ब्रह्म को जानना ही वास्तव में ज्ञान है। वही ज्ञान की परिपूर्णता है। दृष्टि से उसी अद्भुत का दर्शन करें। हमारी दृष्टि इस विशाल विश्व को कैसे देखे? हमारे कान विश्व में व्याप्त शब्दों को कैसे सुनें? हमारे हाथ विश्व की समस्त वस्तुओं को कसे ग्रहण करें? हमारी बुद्धि समस्त विश्व को कैसे जाने? इस गूढ़ समस्या का उपाय वेद ने आत्मवित् होना बताया है। आत्मवित् होना ही इसका हल है। संसार को जानने के लिये अपने को जानो। वेद इसके लिये उपदेश कर रहा है :—

पुण्डरीक रूपी देह

पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृत्तम्।
तस्मिन्यद् यक्षमात्वन्वत् तद्वे ब्रह्मविदो विदुः॥

(अथर्व० कां० १०। ८। ४३)

यह कमल सदृश रचना वाला शरीर है। इसकी आँखें, इसका मुख, इसके हाथ, इसके पैर, इसकी नाभि, इसका हृदय सभी कमल की उपमा योग्य बना हुआ है अतः यह पुण्डरीक ही है। इस शरीर में अनेक कमल विद्यमान हैं। यह नवद्वारों से सुशोभित है। आँख, नाक, कान, मुख आदि ७ द्वार और १ सुषुम्ना का ऊर्ध्व द्वार ब्रह्म-रन्ध्र का और एक द्वार सुषुम्ना का अधोभाग का जो पृष्ठवंश में नीचे है, जहाँ कुंडलिनी का वास है, इस प्रकार नवद्वार युक्त है। सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों से युक्त प्रकृति के संघातों से आवृत है। इसकी रचना को अच्छी तरह जान लेने से सृष्टि रचना का अद्भुत ज्ञान प्राप्त हो जायेगा और इसके केन्द्र में जो यक्ष रूप से

आत्मा विराजमान है, उसे जान लेने पर ब्रह्म का भी ज्ञान हो जायगा।

देवी यज्ञ

ब्रह्माण्ड की अद्भुत रचना और उस ब्रह्माण्ड की शक्तियों का सूक्ष्म रूप से इस देह में प्रवेश और कार्यशीलता को वेद की परिभाषा में यज्ञ की संज्ञा दी गई है। जैसा कि :—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

(यजुः अ० ३१। मं० १४)

देवों ने जिस पुरुषरूपी हवि से आयु रूपी यज्ञ का विस्तार किया उसमें वसन्त ऋतु घृत था, ग्रीष्म ऋतु समिधा थी और शरद् हवि द्रव्य था।

सृष्टि का प्रारम्भ यज्ञ से

सृष्टि निर्माता परम पुरुष ने सृष्टि की रचना का प्रारम्भ जि क्रिया द्वारा किया, वह यज्ञ ही था। जैसा कि :—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशुंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्याग्राम्याश्च ये॥

(यजुः अ० ३१। मं० ६

अर्थात् उस सर्वहुत यज्ञ से दूध, दही, घृतादि रस, आहार व सृष्टि में प्रादुर्भाव हुआ और फिर विविध प्रकार से सृष्टि उत्प हुई।

परमात्मा से वेदों का प्रादुर्भाव

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(यजुः अ० ३१। मं

उस सर्वहुत यज्ञ से ऋग्यजुः सामाथर्व वेद प्रकट हुए अथ सृष्टि के रचे जाने से सृष्टि का ज्ञान अपने पृथक्-पृथक् तत्त्वों

अनुभवगम्य होने की स्थिति को प्राप्त हो गया। इसी प्रकार विविध रचना यज्ञ के द्वारा ही हुई, ऐसा वर्णन पुरुषसूक्त में विद्यमान है और इस सम्पूर्ण रचना का वर्णन ऐसा प्रस्तुत किया गया, मानो यह ब्रह्माण्ड विशाल वेदी ही है, एक विशाल यज्ञ है। अतः विश्व का और हमारा यज्ञमय सम्बन्ध मूल रूप से है। इस आधार पर हमारा जीवन भी यज्ञ है और हमें भी इस जीवन में यज्ञों का ही अनुष्ठान करना चाहिए। यही कर्म श्रेष्ठतम्, सृष्टि अनुकूल एवं परमात्मा के अनुकूल है। अतः हमारे यज्ञमय कर्मों का परमात्मा से सम्बद्ध होना स्वाभाविक है अर्थात् यज्ञ के द्वारा हमारा सम्बन्ध परमात्मा से होता है। इसलिये हमारे जीवन का मुख्य उद्देश्य भी यज्ञ ही है।

यज्ञ की प्राधान्यता

यज्ञ की मुख्यता को प्रकट करने के लिये वेद में एक स्थान पर प्रश्न है :—

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामित्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥

(यजुः अ० २३। मं० ६१)

अर्थात् मैं तुमसे पूछता हूँ कि पृथिवी का परम अन्त कहाँ है और विश्व की नाभि—केन्द्र कहाँ है। सेवन समर्थ प्राणों के केन्द्र सूर्य का तस् क्या है और इस महान् ब्रह्माण्ड में व्याप्त वाणी क्या है?

इन प्रश्नों का उत्तर आगामी मन्त्र में ही निम्न प्रकार दिया या है :—

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥

(यजुः अ० २३। मं० ६२)

यज्ञ की यह वेदी ही पृथिवी का परम अन्त है अर्थात् पृथिवी पर ीवन में अपनी सब कामनाओं की पूर्ति इसी वेदी से होती है। ोक और परलोक, ऐहिक और पारलौकिक सुख, संसार और ईश्वर, र्म और अर्थ, काम और मोक्ष, सभी वेदी से सम्पन्न होते हैं। इस दी में जिन यज्ञों का सम्पादन होता है, वे विश्व के कार्यों के ज्ञान

सम्पन्न कराने वाले और कामनाओं की पूर्ति कराने वाले हैं। अतः ये यज्ञ ही इस विश्व का केन्द्र—नाभितुल्य—हैं। बाह्य सृष्टि में सूक्ष्म पदार्थों से लेकर स्थूल पदार्थों में जिस प्रकार कार्य चल रहा है, उसका दर्शन इन यज्ञों में होता है। इसी प्रकार हमारे शरीर की सूक्ष्म व स्थूल रचना में स्थूल व सूक्ष्म रूप से जो कार्य हो रहा है, उसका प्रत्यक्ष दर्शन इन यज्ञों में होता है।

यज्ञ साधना का लाभ

इन यज्ञों की साधना से बाह्य विश्व एवं अपने शरीर रूपी विश्व इन दोनों का ही दर्शन होता है और इस रहस्य को यथावत् जानकर विश्व के इच्छित भाग पर अनुकूल प्रभाव यज्ञों द्वारा डाला जा सकता है। इसलिए यज्ञ ही संसार के सब कार्यों एवं कामनाओं की पूर्त्ति के साधनों की नाभि है तथा अध्यात्म एवं अधिभूत को इन यज्ञों से प्रभावित किया जा सकता है। इन यज्ञों में सूर्य से उत्पन्न प्राणरूपी शक्ति ही सोम है और यज्ञ में प्रयुक्त ब्रह्म को वेदवाणी ही ब्रह्माण्ड में व्याप्त है।

इस प्रकार वेद ने यज्ञवेदी-यज्ञक्रिया, यज्ञ से उत्पन्न सोम एवं यज्ञ की वाणी को परम महत्त्व प्रदान किया है। एक अन्य मन्त्र में कहा है :—

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।

(यजुः अ० ९। मं० १)

अर्थात् हे सर्वप्रसव करने वाले सवितादेव! आप समस्त ऐश्वर्यों की वृद्धि के लिए यज्ञ को और यज्ञपति को प्रसव कीजिये। जन्म दीजिये। यज्ञ अथवा योग ही दिव्य जीवन प्राप्ति का साधन है। इस प्रकार यज्ञों का महत्त्व जीवन के लिए अनिवार्य है। जीवन की भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञों की साधना करनी चाहिए।

वेद यज्ञ को प्रेरणा दे रहे हैं

चारों वेदों के प्रारम्भ के मन्त्र यज्ञ की प्रेरणा देकर बता रहे हैं

कि यज्ञ ही प्रथम एवं प्रधान कर्त्तव्य है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र—अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्—में यज्ञपद आया है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में इसी यज्ञ को—श्रेष्ठतमायकर्मणे—परमश्रेष्ठ कर्म नाम से सम्बोधित किया गया है। सामवेद के प्रथम मन्त्र में—निहोता सत्सिबर्हिषि—यहाँ बर्हिषि पद यज्ञ के लिए प्रयुक्त है और अथर्ववेद का—वाचस्पति र्बला--शब्द भी वाक्पति का बल, यज्ञ को ही बता रहा है।

ऋग्वेद से यज्ञ की प्रेरणा

चारों वेदों के अपने-अपने प्रधान देवताओं का इसमें प्रमुख स्थान है। ऋग्वेद के—अग्निमीडे—मन्त्र का देवता अग्नि है। भूलोक का देवता भी यही अग्नि है। यज्ञ के लिए अग्नि की आवश्यकता है। भौतिक यज्ञ भौतिक अग्नि से होता है। सृष्टि यज्ञ भी सूर्य रूपी अग्नि एवं उसके परिवर्तित रूप विविध अग्नियों से होते हैं।

अध्यात्म यज्ञ योगरूपी अग्नि या आत्मारूपी अग्नि तथा तदधीन प्राण, मन, चितादि अग्नियों के आश्रित होते हैं। अतः सभी प्रकार के यज्ञों के लिए अग्निदेव को सर्वप्रथम अनिवार्य आवश्यकता है अर्थात् अग्नि के बिना कोई भी यज्ञ नहीं हो सकता। इसीलिए अग्नि ही सर्वप्रथम सबका हित साधक होने से पुरोहित है। इसी ज्ञान को सर्वप्रथम बताने के लिए कि अग्नि तुम्हारा विनाशक नहीं है, यह तो तुम्हारा पुरोहित है यह भाव लेकर इसकी स्तुति अर्थात् इसके गुणों का ज्ञान प्राप्त करो तथा ब्रह्माण्डरूपी यज्ञ के लिए अग्निदेव परमात्मा ही है। वही पुरोहित रूप में विद्यमान हैं इसे अच्छी प्रकार हृदयंगम करो।

यजुर्वेद से यज्ञ की प्रेरणा

यज्ञ के लिए दूसरा आवश्यक देव वायु है। यजुर्वेद का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है। अन्तरिक्ष का अधिष्ठाता देव वायु है। भौतिक अग्नि वायु के बिना अस्तित्वविहीन हो जाती है। शरीरस्थ आत्मारूपी अग्नि प्राणादि वायु के बिना चेष्टारहित हो जाती है। अतः

दोनों प्रकार कीं भौतिक और आध्यात्मिक अग्नियां के लिए जो आधार अन्न, ईन्धन चाहिए, उसी से उसका बल बढ़ता है। दोनों अग्नियों के लिए वायु ही अन्न व बल-तेज को देने वाला है। इसीलिए यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में—इषेत्वा, ऊर्जेत्वा—वायवस्थ—उस तुझ अग्नि के लिए आहार और बल के दाता विविध प्रकार की वायु ही है। यह कहकर अग्नि के लिए वायु को आवश्यकता प्रतिपादित की है।

साम और अथर्व से यज्ञ की प्रेरणा

सामवेद का सम्बन्ध द्युलोक से है। द्युलोक का देव सूर्य है। सूर्य की ही उपस्थिति में यज्ञों का सम्पादन होता है। पृथिवीस्थ यज्ञ सूर्य रश्मियों के माध्यम से द्युलोक तक पहुँचता है। अध्यात्म यज्ञों में सूर्य के भी सूर्य परमात्मा को प्राप्त किया जाता है और अथर्ववेद के प्रधान देवता अंगिरा की यज्ञ में आवश्यकता रहती है। यदि यज्ञ के ईन्धन का परिवर्तन अंगिरा में—अंगारों में - निर्धूम ज्योति में परिवर्तन न हो, तो यज्ञ अपनी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकेगा। अतः चारों वेदों के देवता या ऋषि यज्ञ के आवश्यक साधन हैं।

चारों वेदों से यज्ञकर्त्ताओं का प्रतिपादन

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र ने यज्ञ के लिए—पुरोहित एवं ऋत्विज्—की आवश्यकता बताई। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र ने यजमान का प्रतिपादन किया। सामवेद के प्रथम मन्त्र ने होता का प्रतिपादन किया और अथर्ववेद ने वाचस्पति—ब्रह्मा की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। अर्थात् यज्ञ के लिए पुरोहित, यजमान, होता एवं ब्रह्मा के निरूपण का वेद ने यज्ञ के महत्त्व को प्रकट करने के लिए तथा यज्ञमय जीवन बनाने के लिए उपदेश किया।

यज्ञ फल का ऋग्वेद से निर्देश

इसी प्रकार वेद के प्रथम मन्त्रों ने यज्ञों के फलों का भी निर्देश किया है। ऋग्वेद ने इसी यज्ञ की अग्नि को ही—ऋत्विजं होतारं

कि यज्ञ ही प्रथम एवं प्रधान कर्त्तव्य है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र—अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्—में यज्ञपद आया है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में इसी यज्ञ को —श्रेष्ठतमायकर्मणे—परमश्रेष्ठ कर्म नाम से सम्बोधित किया गया है। सामवेद के प्रथम मन्त्र में—निहोता सत्सिबर्हिषि—यहाँ बर्हिषि पद यज्ञ के लिए प्रयुक्त है और अथर्ववेद का—वाचस्पति र्बला--शब्द भी वाक्पति का बल, यज्ञ को ही बता रहा है।

ऋग्वेद से यज्ञ की प्रेरणा

चारों वेदों के अपने-अपने प्रधान देवताओं का इसमें प्रमुख स्थान है। ऋग्वेद के—अग्निमीडे—मन्त्र का देवता अग्नि है। भूलोक का देवता भी यही अग्नि है। यज्ञ के लिए अग्नि की आवश्यकता है। भौतिक यज्ञ भौतिक अग्नि से होता है। सृष्टि यज्ञ भी सूर्य रूपी अग्नि एवं उसके परिवर्तित रूप विविध अग्नियों से होते हैं।

अध्यात्म यज्ञ योगरूपी अग्नि या आत्मारूपी अग्नि तथा तदधीन प्राण, मन, चितादि अग्नियों के आश्रित होते हैं। अतः सभी प्रकार के यज्ञों के लिए अग्निदेव को सर्वप्रथम अनिवार्य आवश्यकता है अर्थात् अग्नि के बिना कोई भी यज्ञ नहीं हो सकता। इसीलिए अग्नि ही सर्वप्रथम सबका हित साधक होने से पुरोहित है। इसी ज्ञान को सर्वप्रथम बताने के लिए कि अग्नि तुम्हारा विनाशक नहीं है, यह तो तुम्हारा पुरोहित है यह भाव लेकर इसकी स्तुति अर्थात् इसके गुणों का ज्ञान प्राप्त करो तथा ब्रह्माण्डरूपी यज्ञ के लिए अग्निदेव परमात्मा ही है। वही पुरोहित रूप में विद्यमान हैं इसे अच्छी प्रकार हृदयंगम करो।

यजुर्वेद से यज्ञ की प्रेरणा

यज्ञ के लिए दूसरा आवश्यक देव वायु है। यजुर्वेद का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है। अन्तरिक्ष का अधिष्ठाता देव वायु है। भौतिक अग्नि वायु के बिना अस्तित्वविहीन हो जाती है। शरीरस्थ आत्मारूपी अग्नि प्राणादि वायु के बिना चेष्टारहित हो जाती है। अतः

रत्नधातमम्—कहा है। अर्थात् नियमित गति, ऋतुओं का निर्माण, हव्य पदार्थों का गृहीता, वितरक, दाता तथा रमणीय पदार्थों को धारण करने वाला एवं दाता कहा है। सृष्टि के अन्दर जो रमणीय-तम रत्नादि हैं, उनकी प्राप्ति कराने वाला भी यही है। जीवन में सबसे रमणीय रत्न तो परमात्मा ही है।

यज्ञ फल का यजुर्वेद से निर्देश

यजुर्वेद ने—इषे त्वा, ऊर्जे त्वा—कहा। अर्थात् यज्ञ अन्न, विद्या, विज्ञान, बल, रस, आनन्द आदि की प्राप्ति कराने वाला है। संसार में सर्वोत्कृष्ट अन्न ब्रह्म है। सर्वोत्कृष्ट विद्या—विज्ञान ब्रह्म ही है। वही सब बलों का बल, रसों का रस और आनन्दों का भी आनन्द है। संसार के पदार्थों में जो अन्न, बल, रस एवं आनन्द है, वह उसी का है।

यज्ञफल का साम और अथर्व से निर्देश

सामवेद ने यज्ञ का फल—वीतये—कहा। प्रकाश, गति, कान्ति, उत्पत्ति अर्थात् समृद्धि आदि यज्ञ से प्राप्त होती है। सब प्रकाशों के प्रकाशक, सब गतियों के गतिदाता, समस्त कान्तियों से श्रेष्ठ कान्ति-वाले, सबके उत्पत्तिकर्ता एवं समृद्धिदाता परमात्मा की भी प्राप्ति इसी योग यज्ञ से है। संसार के पदार्थों में जो अन्न, बल, रस की प्राप्ति एवं आनन्द का अनुभव होता है, वह सब उसी परमात्मा का दिया हुआ कुछ अंशमात्र है। अतः उस प्रभु की स्तुति करें, यह भाव—गृणानः—पद में रखा गया है। इस प्रकार यज्ञ से समस्त प्रकार के तेज, बलादि की प्राप्ति होती है। उसको अपने में धारण करने को अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र के—तेषां तन्वो अद्य दधातु में—इन शब्दों में कहा गया है।

इनका भूर्भुवः स्वः में समावेश

वेदों के इस मूलभूत सिद्धान्त को—भूर्भुवः स्वः—इन तीन शब्दों से व्यवहृत किया गया है। इन्हीं तीनों व्यवहृतियों में त्रयी विद्या का

बीजरूप में प्रतिपादन है। इन्हीं तीनों शब्दों से तीनों लोकों को, तीनों लोकों में स्थित देवों का, तीनों अग्नियों का, तीनों प्राणों का, वेद चतुष्टय का, त्रयी विद्या के रूप में विशाल ज्ञान प्राप्त होता है।

यही महा व्याहृतियाँ और इनके लोक पुरुष में—

—नाभ्या आसीदन्तरिक्षं—शीर्ष्णोद्यौः--पद्भ्यांभूमिः—

(यजु: अ० ३१। मं० १३)

रूप में विद्यमान है। जब यज्ञों के क्रम से इस पुरुष रूपी यज्ञ-शाला का--साधन का—ज्ञान होता है तो इस यज्ञशाला में बैठे सप्त होताओं का भी ज्ञान हो जाता है, जिसके लिए वेद ने कहा है कि—इस शरीर में

शरीर यज्ञ में सप्त होता ऋषि

'यज्ञस्तायते सप्तहोता'

(यजु: अ० ३४। मं० ४)

सात होता बैठे हुए अपना यज्ञ कर रहे हैं। जब इस प्रकार यज्ञमय पुरुष का ज्ञान हो जाता है, मधुर संगीत में अनुभूति प्रकट करने लगता है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥

(यजु: अ० ३४। मं० ५५)

सात ऋषि इस शरीर में स्थित हैं। ये ही सातों ऋषि इस शरीर की निरन्तर रक्षा कर रहे हैं। सुप्त अवस्था में ये सातों, शरीर में व्याप्त ऋषि—जीवात्मा को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी स्वप्नावस्था में भी जिनको कभी निद्रा प्राप्त नहीं होती, ऐसे जीवात्मा की रक्षा करने वाले प्राणापानरूप दो देव सदा जागते रहते हैं।

इस मन्त्र में देव एवं ऋषियों को शरीर में स्थित बताया गया है : ये सात ऋषि—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन एवं सातवाँ बुद्धितत्त्व है, जो शरीर में निवास करते हैं। जागृत अवस्था में निरन्तर कार्य-शील रहते हैं और प्राणपान देव तो सदा ही जागृत रहते हैं तथा ये

नद्रित अवस्था में भी जागरूक रहते हैं ।

इसके अतिरिक्त इन्द्रियों एवं मन में ऋषितत्त्वों की स्थापना का वेद में निम्न प्रकार भी वर्णन प्राप्त है :—

'वसिष्ठ ऋषिः···त्वया प्राणं गृह्णामि' (यजुः अ० १३ । मं० ५४)
'भरद्वाजऋषिः ··त्वया मनो गृह्णामि' (यजुः अ० १३ । मं० ५५)
'जमदग्निऋषिः···त्वया चक्षुर्गृह्णामि' (यजुः अ० १३ । मं० ५६)
'विश्वामित्रऋषिः त्वया श्रोत्रं गृह्णामि' (यजुः अ० १३ । मं० ५७)
'विश्वकर्मऋषिः···त्वया वाचं गृह्णामि' (यजुः अ० १३ । मं० ५८)

वसिष्ठ ऋषि

अर्थात् वसिष्ठ ऋषि के द्वारा प्राण की दिव्य शक्ति को ग्रहण करता हूँ। वसिष्ठ का तात्पर्य है, जो अतिशय अपने वश में करने वाला है। प्राण ही ऐसा तत्त्व है, जिसके वश में सब हैं। प्राण के न रहने पर ये सब भी शरीर को छोड़कर चले जाते हैं, अतः प्राण वसिष्ठ हैं।

भारद्वाज ऋषि

भारद्वाज ऋषि द्वारा मन की दिव्य शक्ति को प्राप्त करना चाहिए। भारद्वाज का तात्पर्य है, जो बल को भरने वाला है। यदि मन निर्मल है, तो शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। निरुत्साहित व्यक्ति चाहे कितना ही वसिष्ठ हो, वह कुछ नहीं कर सकता। अतः भारद्वाज ऋषि द्वारा मनोबल और शरीर को उत्साहपूर्ण बनाना चाहिए ऐसी प्रक्रिया का वेद ने संकेत किया।

जमदग्नि ऋषि

इसी प्रकार जमदग्नि ऋषि के द्वारा चक्षु की दिव्यशक्ति को ग्रहण करना चाहिए। जमदग्नि का तात्पर्य है, तेजयुक्त अग्नि तथा प्रकाश आदि। प्रकाश या अग्नि रहित नेत्र कुछ नहीं कर सकते। नेत्र में वह तेज चाहिए कि अभद्र कार्य दृष्टिमात्र से नष्ट हो जाएँ और 'भद्रं पश्येम' सार्थक हो जाये। अतः नेत्रों को तेज एवं दीप्ति-

युक्त रहने के लिए जमदग्निऋषि की आवश्यकता है।

विश्वामित्र ऋषि

विश्वामित्र ऋषि द्वारा दिव्य श्रोत्रशक्ति को प्राप्त करना चाहिए। विश्वामित्र का तात्पर्य है सबका मित्र। यदि आपके कानों में विश्वामित्र ऋषि विद्यमान है, तो आप किसी की निन्दा श्रवण में में अपने कानों को प्रवृत्त न होने देंगे। उस अवस्था में 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम' (यजुः अ० २५। मं० २१) सदा कल्याणकारिणी वेद-वाणी का श्रवण होता रहेगा।

विश्वकर्मा ऋषि

विश्वकर्मा ऋषि द्वारा वाणी को ग्रहण करने का वेद ने उपदेश किया है। जिसने अपनी वाणी में विश्वकर्मा ऋषि को स्थापित कर लिया, वह अपने सब कार्य सिद्ध कर सकता है। विश्वकर्मा का तात्पर्य है, जो समस्त कार्यों को कुशलता एवं सौन्दर्य से निर्मित करता है। विश्वकर्मा महान् निर्माण करने वाला कला का देव है। यदि हम वाणी को ऐसा बना लें कि उसके द्वारा प्रेम से निर्माण का कार्य होता रहे, तो यह बड़ी भारी विजय है।

प्रार्थनोपासना की आवश्यकता

हमारे शरीर में ऋषि एवं देवों को स्थापना या उनकी अनुभूति अध्यात्म पक्ष का उत्तम अंग है। इसीलिये अपनी शक्तियों के विकास के लिए देवों एवं परमात्मा की स्तुति एवं उनसे विविध शक्तियों की पूर्ति या प्राप्ति की कामना की जाती है। उसके मन्त्र विद्यमान हैं। ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमात्मा की विविध देव शक्तियों का सम्बन्ध इस पिण्ड रूपी अध्यात्म से है। इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये प्रार्थना करना श्रेयस्कर है।

पवित्रता के लिये पितरों से प्रार्थना

अपने अन्दर शक्तियों के परम स्रोत से शक्तियों या गुणों की

नद्रित अवस्था में भी जागरूक रहते हैं।

इसके अतिरिक्त इन्द्रियों एवं मन में ऋषितत्त्वों की स्थापना का वेद में निम्न प्रकार भी वर्णन प्राप्त है :—

'वसिष्ठ ऋषिः···त्वया प्राणं गृह्णामि' (यजुः अ० १३। मं० ५४)
'भरद्वाजऋषिः ··त्वया मनो गृहणामि' (यजुः अ० १३। मं० ५५)
'जमदग्निऋषिः···त्वया चक्षुर्गृह्णामि' (यजुः अ० १३। मं० ५६)
'विश्वामित्रऋषिः त्वया श्रोत्रं गृह्णामि' (यजुः अ० १३। मं० ५७)
'विश्वकर्मऋषिः···त्वया वाचं गृह्णामि' (यजुः अ० १३। मं० ५८)

वसिष्ठ ऋषि

अर्थात् वसिष्ठ ऋषि के द्वारा प्राण की दिव्य शक्ति को ग्रहण करता हूँ। वसिष्ठ का तात्पर्य है, जो अतिशय अपने वश में करने वाला है। प्राण ही ऐसा तत्त्व है, जिसके वश में सब हैं। प्राण के न रहने पर ये सब भी शरीर को छोड़कर चले जाते हैं, अतः प्राण वसिष्ठ हैं।

भारद्वाज ऋषि

भारद्वाज ऋषि द्वारा मन की दिव्य शक्ति को प्राप्त करना चाहिए। भारद्वाज का तात्पर्य है, जो बल को भरने वाला है। यदि मन निर्मल है, तो शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। निरुत्साहित व्यक्ति चाहे कितना ही वसिष्ठ हो, वह कुछ नहीं कर सकता। अतः भारद्वाज ऋषि द्वारा मनोबल और शरीर को उत्साहपूर्ण बनाना चाहिए ऐसी प्रक्रिया का वेद ने संकेत किया।

जमदग्नि ऋषि

इसी प्रकार जमदग्नि ऋषि के द्वारा चक्षु की दिव्यशक्ति को ग्रहण करना चाहिए। जमदग्नि का तात्पर्य है, तेजयुक्त अग्नि तथा प्रकाश आदि। प्रकाश या अग्नि रहित नेत्र कुछ नहीं कर सकते। नेत्र में वह तेज चाहिए कि अभद्र कार्य दृष्टिमात्र से नष्ट हो जाएं और 'भद्रं पश्येम' सार्थक हो जाये। अतः नेत्रों को तेज एवं दीप्ति-

युक्त रहने के लिए जमदग्निऋषि की आवश्यकता है।

विश्वामित्र ऋषि

विश्वामित्र ऋषि द्वारा दिव्य श्रोत्रशक्ति को प्राप्त करना चाहिए। विश्वामित्र का तात्पर्य है सबका मित्र। यदि आपके कानों में विश्वामित्र ऋषि विद्यमान है, तो आप किसी की निन्दा श्रवण में में अपने कानों को प्रवृत्त न होने देंगे। उस अवस्था में 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम' (यजु: अ० २५। मं० २१) सदा कल्याणकारिणी वेद-वाणी का श्रवण होता रहेगा।

विश्वकर्मा ऋषि

विश्वकर्मा ऋषि द्वारा वाणी को ग्रहण करने का वेद ने उपदेश किया है। जिसने अपनी वाणी में विश्वकर्मा ऋषि को स्थापित कर लिया, वह अपने सब कार्य सिद्ध कर सकता है। विश्वकर्मा का तात्पर्य है, जो समस्त कार्यों को कुशलता एवं सौन्दर्य से निर्मित करता है। विश्वकर्मा महान् निर्माण करने वाला कला का देव है। यदि हम वाणी को ऐसा बना लें कि उसके द्वारा प्रेम से निर्माण का कार्य होता रहे, तो यह बड़ी भारी विजय है।

प्रार्थनोपासना की आवश्यकता

हमारे शरीर में ऋषि एवं देवों को स्थापना या उनकी अनुभूति अध्यात्म पक्ष का उत्तम अंग है। इसीलिये अपनी शक्तियों के विकास के लिए देवों एवं परमात्मा की स्तुति एवं उनसे विविध शक्तियों की पूर्ति या प्राप्ति की कामना की जाती है। उसके मन्त्र विद्यमान हैं। ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमात्मा की विविध देव शक्तियों का सम्बन्ध इस पिण्ड रूपी अध्यात्म से है। इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये प्रार्थना करना श्रेयस्कर है।

पवित्रता के लिये पितरों से प्रार्थना

अपने अन्दर शक्तियों के परम स्रोत से शक्तियों या गुणों की

प्राप्ति से हम भी शक्ति एवं गुणसम्पन्न बन सकेंगे। जो परम शक्ति सम्पन्न है, वह ज्ञान का भी आदि क्षेत्र है। इसलिये वेदों में अपनी बौद्धिक एवं मानसिक शक्तियों को पवित्रता तथा प्राप्ति के लिए विश्व की तत्सम्बन्धी शक्तियों से प्रार्थना की गई है :

'पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः
पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा।'

(यजु: अ० १६। मं० ३७)

मुझको सोम सम्पादक पितृजन पवित्र करें। अर्थात् जो ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, अध्यात्म विद्या से रत हैं, वे सुख एवं शान्तिदायक पवित्र एवं जीवनोन्नति के कार्य के लिये मुझे पवित्र करें, जिससे उस पवित्रता की पात्रता से मुझे भी सोम विद्या प्राप्त हो। मैं भी ऊर्ध्व-रेता बनकर वीर्य को सोम रूप बनाकर अपने ब्रह्मकोश शिर में जो देव एवं ऋषिगण हैं, उनको उस सोम से पुष्ट, बलवान् एवं तेजस्वी कर सकूँ।

विविध पितृ शक्तियाँ

इस विद्या में जो मेरे प्रथम गुरु या पितृतुल्य हैं, जिनसे प्रथम प्रेरणा मुझे प्राप्त हुई है, उनके भी जो पितृतुल्य गुरु हैं, वे मेरे लिये पितामह हैं। उनका भी आशीर्वाद, उनसे भी ज्ञान एवं शक्तिप्राप्ति हो। वे भी मुझे और अधिक पवित्र करें तथा मेरे ज्ञान परम्परा में जो पितामह हैं, वे मेरे पितामहतुल्य हैं। वे भी अपनी देवी शक्तियों एवं ज्ञान तथा कर्म की शुद्ध परम्पराओं को देते हुए मेरे कर्मों का निरीक्षण करें। मेरे कार्यों में, ज्ञान में जो त्रुटियाँ हों उनका परि-ष्कार कराके मुझे पवित्र करें, जिससे मैं पवित्र एवं देवी शतायु को अर्थात् पूर्ण आयु को प्राप्त कर सकूँ। यही पूर्ण एवं पवित्र आयु की प्राप्त ही मनुष्य के लिए अमृत प्राप्ति है।

पितरों एवं देवों का भेद

इस उपरिनिर्दिष्ट मन्त्र में विविध पितरों से पवित्रता की प्रार्थना की गई है। पितर संज्ञा उनकी है, जो मूलभूत पूंजी अर्थात् कारण

इस मंत्र द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंगों की शुद्धि तथा चरित्र की शुद्धि का वर्णन है। इसी प्रकार बुद्धि की परम पवित्रता के लिये निम्न मन्त्र वेद में आते हैं :—

सदसस्य तिभद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषं स्वाहा ॥
यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ॥
मेधां मेवरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे ॥

(यजुः अ० ३२। मं० १३-१५)

अद्भुत गुणवाले, जीव के कमनीय, प्रिय, ब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर से मेधा की याचना करता हूँ। हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! ऋषिमुनि आदि विद्वान् गण तथा पालक जन जिस मेधा बुद्धि की उपासना करते हैं, उस बुद्धि से आज मुझे मेधावी बना। वरणीय वरुण परमेश्वर मुझे मेधा बुद्धि दें। अग्रनायक अग्नि तथा प्रजा-पालक परमेश्वर मुझे मेधा प्रदान करें। ऐश्वर्यशाली इन्द्र तथा सर्व-प्रेरक वायु रूपी परमेश्वर मुझे मेधा प्रदान करें।

सविता देव से बुद्धि एवं मार्ग की प्राप्ति

इन मन्त्रों में देव एवं पितर जिस बुद्धि की कामना करते हैं, उसकी प्राप्ति की प्रार्थना की गई है, क्योंकि सृष्टि में पितृ एवं देव तत्त्वों में अद्भुत शक्ति है। हमारा शरीर भी पितृ एवं देव तत्त्वों से बना है। उनका इसमें वास है, अतः उनकी शक्तियों की जागृति से हम पितर एवं देव कोटि के बन सकेंगे। ऐसी बुद्धि वरुण, प्रजा-पति, इन्द्र, वायु, धाता आदि देवों से, उनके गुणों का अध्ययन करके, उनके अनुकूल कार्य करने के अपने विचार बनाकर कार्य करने से सम्पन्न होती है। ऐसी देवबुद्धि की प्राप्ति से मनुष्य सत्कर्मों की ओर लगा रहता है और उसको परमात्मा के तेज की भी प्राप्ति होती है, जिसका वर्णन निम्न मन्त्र में है :—

द्रव्य को देते हैं। पिता स्थूल देहरूपी पूंजी को देता है अतः पितर है। परन्तु जो इस शरीर के विकास में और इसके व्यवहार को सम्पन्न कराते हैं, वे देव हैं।

इसी प्रकार मूल ज्ञान का—अविकसित ज्ञान सम्पत्ति का—दाता भी पितर है और जो उस ज्ञान का विकास एवं उसके व्यवहार का विकास कराने वाले हैं, वे देव हैं। पिता ही पितर संज्ञक है। किसी व्यापारादि के लिए मूल धन दाता पितृतुल्य है। उस धन द्वारा व्यापार विकास में सहयोगी देवतुल्य हैं। क्योंकि देवों से विकास, उन्नति, प्रसन्नता, आनन्द, क्रीड़ा, व्यवहार, यश, ऐश्वर्य एवं कान्ति की प्राप्ति होती है।

पूंजी का विनिमय देवमार्ग है। पूंजी का सुरक्षित रखना पितृ मार्ग है। ज्ञान को रट-रटाकर अर्थहीन सुरक्षित रखना पितृमार्ग है और उस ज्ञान से व्यवहार, आनन्द प्राप्ति और स्वयं आनन्दित होकर सबको लाभ एवं सुख पहुँचाना देवमार्ग है।

पवित्रता के लिए देवों से प्रार्थना

अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पितरों एवं देवों, इन दोनों शक्तियों से अपनी समृद्धि करनी पड़ती है, अतः निम्न मन्त्र में देव-जनों से भी पवित्रता के लिए प्रार्थना की गई है।

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥

(यजुः अ० १९। मं० ३९)

अर्थात् मुझे देवजन पवित्र करें। मेरे शरीर को पवित्र करें। मेरे मन और बुद्धियों को पवित्र करें। मेरे कर्मों को पवित्र करें। संसार की समस्त आधिदैविक एवं आधिभौतिक शक्तियाँ मुझे पवित्र करें। जातवेदा जो परमात्मा है तथा उसकी जो वेदवाणी है, वह मुझे पवित्र करे। जो विविध प्रकार की दृष्ट एवं अदृष्ट सर्वत्र प्रसारित अग्नियाँ हैं, वे मुझे पवित्र करें।

[illegible]

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

(यजुः अ० ३७। मं० २)

हम सकल जगत् के उत्पादक, वरणीय देव का, जो अति शुद्ध ग्रहण करने योग्य तेज है, उसको धारण करें, जो कि हमारी बुद्धियों को श्रेष्ठ कार्यों में प्रेरित करे। इसी प्रकार अनेक मन्त्रों में बुद्धि की प्रार्थना है।

देवीं धियं मनामहे।

(यजुः अ० ४। मं० ११)

हम देवी बुद्धि की कामना करते हैं। इस प्रकार की पवित्र बुद्धि की प्राप्ति के लिये साधना करनी पड़ती है। तभी वह प्राप्त होती है।

व्रताचरण करना चाहिये

अतः वेद ने कहा—

व्रतं कृणुत—व्रतं कृणुत।

(यजुः अ० ४। मं० ११)

व्रत करो, निश्चय से व्रत करो। क्योंकि

व्रत का लाभ

व्रतेन दीक्षामाप्नोति।

(यजुः अ० १९। मं० ३०)

व्रत से दीक्षा की प्राप्ति होती है। अर्थात् आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकारी बन जाता है। इस प्रकार व्रतानुष्ठान करने से—

दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति
श्रद्धया सत्यमाप्यते।

(यजुः अ० १९। मं० ३०)

दीक्षा प्राप्त होने पर दक्षिणा-वृद्धि, उन्नति, समृद्धि का साधन प्राप्त होता है और उस समृद्धि से श्रद्धा की जागृति होती है तथा

श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति हो जाती है।

जीवन में सत्य की उपलब्धि, सत्य का दर्शन ही वास्तविकता है। सत्य से विपरीत अवास्तविकता है। अतः सत्य का अनुष्ठान सत्य पर दृढ़ स्थिति करने से होती है। सत्य प्रतिज्ञ होकर यज्ञ का अनुष्ठान-कर्ता सत्यस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए यज्ञ के समय यजमान को सत्य व्रत की ही प्रतिज्ञा करनी पड़ती है, जैसा कि

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

(यजुः अ० १। मं० ५)

हे व्रतपति! अग्निस्वरूप! ज्ञानप्रकाशक परमात्मा! मैं आपकी प्राप्ति का व्रत ग्रहण करता हूँ। उसको मैं पूर्ण करने में समर्थ हो सकूँ। आप भी कृपा करके मेरे उस व्रत को पूर्ण कीजिये। यह मैं अनृतमागमय जो समस्त लोक-व्यवहार है, जिसे वेद ने अविद्या, असंभूति, विनाश नाम से कहा है, उससे मैं सत्य को—विद्या, संभूति को—शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करता हूँ।

यज्ञ से भद्र की प्राप्ति

यह सब इसलिए करना है कि यह शरीर परमात्मा ने श्रेष्ठ कर्म करने के लिए दिया है। इस शरीर को अत्यन्त पवित्र श्रेष्ठ, दिव्य एवं शुभकर्मों से युक्त करना चाहिए। जैसा कि निम्न मन्त्र में उपदेश है:—

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि।

(यजुः अ० ४। मं० १३)

हे प्रभु! यह तेरी साधना के लिए यज्ञ सम्बन्धी मेरा शरीर है। इसमें जो त्याज्य भाग है, उसे पृथक् करता हूँ। ऐसी साधना से जो साधक साधना करे तो 'दुरितानि परासुव' (यजुः अ० ३० मं० ३) दुरित—बुराइयाँ दूर होती जायेंगी और—यद्भद्रं तन्न आसुव—अच्छाइयों की उपलब्धि होगी।

हमारे लिये भद्र क्या है? वेद कहता है

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम—भद्रं पश्येम'

(यजु: अ० २३। मं० २१)

हम भद्र ही कानों से सुनें और भद्र ही देखें। इन दोनों प्रकार के भद्र की प्राप्ति यज्ञ से ही हो सकती है। क्योंकि

उतत्वःपश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

(ऋ० मं० १। सू० ७१। मं० ४)

इस मन्त्र में वेदवाणी का दर्शन और उसके सुनने का जो आदेश है, उससे पूर्व मन्त्र में निर्दिष्ट, देखने व सुनने की पुष्टि वेदवाणी के लिए ही होती है। वेदवाणी से यज्ञ होता है। उसमें भद्र वेदवाणी का श्रवण तथा यज्ञ के भद्र रूप का दर्शन होता है। अतः भद्र यज्ञ ही है। यज्ञ भद्र इसलिए भी है कि इसकी साधना से परब्रह्म की भी प्राप्ति होती है। सर्व भद्रों का वही भद्र है। उससे बढ़कर भद्र प्राप्ति अन्य कुछ है ही नहीं। इस दृष्टि से अपने शरीर को यज्ञ सम्बन्धी बनाना एवं यज्ञमय बनाना आध्यात्मिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। योग यज्ञ द्वारा दिव्य चेतन्य की प्राप्ति हो जाने पर भद्र ही भद्र दिखाई पड़ता है तथा ओ३म् ही सुनाई पड़ता है।

यज्ञ से शरीर की श्रीवृद्धि

इस प्रकार यज्ञमय शरीर बनाने से शरीर में दिव्य छटा आ जाती है और साधक कहता है :—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥१॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोक्षः प्रमोदा अंगुलीरंगानि मित्रं मे सहः ॥२॥
बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्ती मे कर्मवीर्यम्।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥३॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसो ग्रीवाश्चश्रोणी।
ऊरु अरत्नी जानुनी विशो मेऽगांनि सर्वतः ॥४॥
नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेपचितिर्भसत्।
आनन्द नन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः।

जंघाभ्यां पद्भ्यां धर्मोसि विशि राजा प्रतिष्ठितः ।।५।।

(यजुर्वेद अ० २० । मं० ५, ६)

अर्थात् अध्यात्म साधनावाला जब अपनी देवरूप पवित्रता करके श्रेष्ठ देवबुद्धि को प्राप्त करता है तो वह कहता है—अब मेरा शिर श्रीयुक्त हो गया है। इसमें दिव्य चिन्तन हो रहे हैं। जिस शिर में दुरित विचार एवं दुरित कर्मों के चिन्तन का मन्थन होता रहता है, उसमें श्री का वास नहीं है। दुर्मति में श्री का वास नहीं होता। अतः शुभ चिन्तन करने वाला शिर एवं शिव संकल्पवान् मन जब इसका संचालन करेगा, तभी व्यक्ति श्रीसम्पन्न कहला सकेगा। सर्वप्रथम इसी के श्रीसम्पन्न होने की आवश्यकता है, जिससे शरीर के अंग-प्रत्यंग सभी में अपनी-अपनी का वास हो सके।

उस अवस्था में 'यशोमुखम्' मुख यशस्वी एवं उज्जवल होगा। शिर में श्रेष्ठ देवबुद्धि जब तक न होगी, तब तक अपने मुख पर यश नहीं होगा, न अन्य जनों के मुख पर हमारे यश की वार्ता होगी। जो व्यक्ति मुख की पवित्रता के लिए आहार-विहार की पवित्रता एवं उसपर संयम नहीं कर सकता और वाणी की पवित्रता एवं उसपर संयम करके उसको मधुर, प्रियभाषिणी, हितकारिणी नहीं बना सकता, उसके मुख का यश नहीं हो सकता। अतः अध्यात्म साधना के लिए मुख को यशस्वी बनाना होगा।

मुख का यशस्वीपन वाणी से सम्पन्न होता है, परन्तु यदि उसके साथ उस पर दाढ़ी-मूंछ आदि भी हों, तो उसके द्वारा उसकी साधना की परिपक्वता का भी सहज आभास हो जाता है। जो व्यक्ति जितने अधिक दीर्घ काल तक तप या अपनी साधना में जीवन व्यतीत करेगा, उसके कारण दाढ़ी-मूँछ भी उतनी ही अधिक बढ़ेंगे और उनकी परिपक्वता भी उससे प्रकट होगी। अतः 'त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि' मेरे केश व दाढ़ी-मूँछ कान्तिवान् हो, यह साधना अपनी उन्नति के लिए करनी पड़ती है।

प्राण शरीर का राजा है, उसे अमृत का पान कराना होगा। प्राण शरीर व इन्द्रियों का राजा होने से इन्द्र है। इन्द्रियाँ ही देव हैं।

यदि प्राणरूपी इन्द्र अपने इन्द्रियरूपी देवों के साथ अमृत का पान नहीं करेगा, तो प्राणरूपी इन्द्र को अजरत्व, निर्जरत्व, अमरत्व कहाँ से प्राप्त होगा। प्राण के जर्ज एवं शक्तिहीन होने से मर्त्यभाव प्रधान हो जायेगा। अतः प्राण जो शरीर का राजा है, उसे बलवान बनाना पड़ेगा। प्राण को बल, अमृत से, शुद्ध अध्यात्म प्राण से प्राप्त होता है, जिससे वह सदा जागृत रहता है। यह अमृततत्त्व प्राण को ब्रह्मचर्य एवं प्राणायामादि की आध्यात्मिक साधना से ही प्राप्त होता है। अतः 'राजा मे प्राणो अमृतं' यह वेद ने अपने में चरितार्थ करने का उपदेश दिया।

'सम्राट चक्षुः' सूर्य अथवा दिव्य चक्षु प्राप्त करना अपनी चक्षुओं को सम्राट् बनाना होता है। इस सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद का दर्शन ही वास्तव में चाक्षुषत्व है। जिस प्रकार से राष्ट्र में सम्राट की विविध दर्शनशक्ति राज्य को भली-भाँति देखती रहती है और जिस प्रकार से अखिल विश्व का सम्राट् अपनी दिव्य दृष्टि से सर्वत्र देख रहा है, उससे कुछ अचाक्षुष्य नहीं रहता, उसी प्रकार अध्यात्मिक साधना करने वाले को अपनी विविध प्रकार की दर्शन शक्ति, सम्राट् शक्ति जागृत करके साधना करनी चाहिए। जिसके नेत्र सम्राट् के समान तेजस्वी होंगे, उसके सामने कौन दुष्ट प्राणी या दुष्ट भाव अंकुरित हो सकेगा। इस प्रकार 'सम्राट्चक्षुः' सू दर्शन की साधना अध्यात्म पक्ष में करनी होगी।

जब मुख, प्राण, नेत्र सभी देव श्रेष्ठ होंगे, तो 'विराट् श्रोत्र' की भी साधना में श्रोत्र कैसे पीछे रहेंगे। उन्हें भी इन सबसे उ प्रेरणा मिलेगी, वह भी दिव्य ही होगी। विराट् परमात्मा का व विराट् शब्द, जो उस विराट् प्रभु के साथ सर्वत्र व्याप्त है, गूढ़ अव्यक्त है, अनहत रूप से सर्वत्र विद्यमान एवं प्रकट हो रहा है। व उसी अवस्था में सुनाई पड़ सकता है, जब हम श्रोत्रों को विराट् शब्द में लगा देंगे। इसके लिए मध्यमा वाक् से ऊपर पश्यन्ती वा में प्रवेश करना चाहिए। उसकी ध्वनि को सुनने के लिए बाह्य शब से वृत्तियों को हटाकर अन्तर्मुख होकर ध्यान में बैठना होगा। विर

के साथ श्रवण का सान्निध्य करने से 'विराट् श्रोत्रम्' की साधना सिद्ध होगी।

ऐसा साधक कह उठेगा, आओ विश्व के प्राणियो, ऐ मनुष्यो, पशुओ और पक्षियो! मेरी जिह्वा कल्याणकारी हो गई है। अभी तक तुम लोग जिह्वा के वश में इधर-उधर भटकते फिरते हो, तुम मेरे समान 'जिह्वा मे भद्रम्' की साधना करो। यह जिह्वा संसार के विविध रसों में लिप्त होकर उनके वशीभूत होकर, अभद्र बनकर शरीर को अभद्र बना रही है। इस पर संयम करने से वह भद्र—कल्याणकारी—बन जायेगी। यह तुम्हारे वश होकर तुम्हें कहीं नहीं भटकावेगी और जो महान् अमृतरस शिरस्थ पद्मों में से निर्झरित होता रहता है, उसके रसास्वादन में लगी रहेगी, जिसे योगी लोग खेचरी मुद्रा द्वारा प्राप्त करते हैं। एक बार जब रसना ने उस रस का आस्वादन कर लिया, तो फिर संसार के सब रस फीके पड़ जायेंगे। संसार के इन रसों से भी परे का वह दिव्य रस है, उसकी खोज करो और 'जिह्वा मे भद्रम्' को सार्थक करो।

जिसने इस प्रकार अपने अंग-प्रत्यंग एवं इन्द्रियों में दिव्य गुणों का आधान किया है, उसकी 'वाङ्महः' वाणी में वास्तव में महानता होती है। उसकी वाणी पूजनीय होती है। उसमें प्रभाव एवं शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वाणी को पूजनीय बनाने के लिए उसकी यथार्थ रूप से साधना करनी चाहिए। परमात्मा की पूजनीय वेदवाणी की साधना से अधिक वाणी की और कौन-सी श्रेष्ठ साधना हो सकती है। वही वाणी सबसे महान् एवं पूजनीय है। उस वाणी के उच्चारण वास्तव में हमारी वाणी भी पूजनीय होगी और हमारा ज्ञान भी पवित्र होगा। हमारे संकल्प पवित्र बनेंगे। हमारे कर्म भी पवित्र बनेंगे।

इसीलिए मन्त्र में आगे मन तथा कर्मेन्द्रियों को भी श्रेष्ठ गुणयुक्त बनाने के लिये 'मनो मन्युः', 'स्वराड् भामः' कहा है। अर्थात् मेरा मन मन्यु से युक्त हो। मन्यु रहित मन में तेजस्विता नहीं। निस्तेज मन अपने कुसंस्कारों को नष्ट कर सकता। मन का अशुभ संकल्पों को छोड़ने के लिये जो क्रोध है, वह मन्यु है। वही जब शरीर संयुक्त

होकर प्रकट हो जाता है, तो भाम: है। यह जो भीम: क्रोध है, वह स्वराड् अपने से ही प्रकाशित होने वाला हो, किसी अन्य का हनन करने वाला न हो। अर्थात् अपने में ही जो कुविचार, दुर्भावना एवं अपने ही दूरित कर्म हैं, उन्हें दूर करने के लिये यह प्रकाशित हो।

अब शिर, ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी एवं मन इस प्रकार से श्रेष्ठ गुण-युक्त हो जायेंगे, तो 'मोदा: प्रमोदा अंगुलीरंगांसि' मेरे अंग-प्रत्यंग में, मेरी अंगुलियों में हर्ष और आनन्द विराजने लगता है। उससे कलाओं का विकास होने लगता है और साधक अनुभव करने लगता है कि 'मित्रं मे सह:' साहस मित्र हो गया है। मुझमें अत्यन्त साहस है, बल है। साहस के मित्र बन जाने से प्रत्येक कार्य में सफलता ही प्राप्त होती है। जो निरुत्साही होते हैं, वे कोई भी कार्य प्रारंभ नहीं कर पाते।

साहस के मित्र बन जाने पर ही साधक कह सकता है 'बाहू में बलमिंद्रियं हस्तो मे कर्म वीर्यम्'। मेरे बाहुओं में नि:सन्देह बल है, इन्द्रियों में ऐश्वर्य भरा हुआ है और हाथों में अपूर्व कर्म एवं पराक्रम स्फूर्ति हो गई है। अब साहस के साथ साधक कह सकता है। 'आत्मा क्षत्रमुरो मम' अर्थात् मेरे हृदय में दृढ़ आत्मबल जागृत हो गया है और सबके रक्षण में मेरी भुजाओं का बल, हाथों का कर्म-कौशल और हृदय का प्रेम समर्पित हो गया है।

मेरी पीठ अब राष्ट्र बन गई है। उस पर मैं देश, जाति एवं संसार के कल्याण एवं उन्नति का भार वहन करूँगा। मेरा उदर, कंधे, ग्रीवा, कटिप्रदेश, जंघा, घुटने ये सब मेरी प्रजायें हैं। मेरे वश में हैं। मेरे नियंत्रण में हैं और मेरे सहायक हैं। मेरे चित्त ने नाभि केन्द्र के चक्र मणिपुर को जागृत कर लिया है। मेरे ज्ञान ध्यान ने मूलाधार चक्र को भी जागृत कर लिया है और आनंददायक स्वाधिष्ठान चक्र को भी जागृत कर लिया है। जांघों और पैरों से आसन धर्म को सिद्ध कर लिया है तथा शरीररूपी प्रजा में प्राणरूपी राजा की प्रतिष्ठा कर ली है।

इस प्रकार शरीर के अंगों में गुणाधान आध्यात्मिक साधना में

अनेक विधियों से करना होता है।

वर्त्तमान जीवन में आध्यात्मिकता की आवश्यकता

वर्त्तमान समय के जनजीवन में यदि आध्यात्मिक साधना का प्रवेश हो जायेगा तो जीवन महान् आदर्श बन सकता है और जीवन में सुख एवं शान्ति भी प्राप्त हो सकती है। आज सुख की खोज में मान भटक रहा है। वह शरीर एवं इन्द्रियों को विषय भोग की भट्टी में झोंकने के साधनों को संग्रह करके अपने चारों ओर रोग, शोक, मोह, द्वेष, क्रोध के दावानलों को भड़काकर सुख और शान्ति के मार्ग को खोजना चाहता है। वह कैसे प्राप्त हो ?

शान्ति का निवास बड़े-बड़े प्रासादों में नहीं है। उसे दुनिया के बड़े-से-बड़े बाजार में से खरीदा नहीं जा सकता। उसे हम बड़े-बड़े उद्यानों में नहीं पा सकते। बड़े-ब्रड़े कीमती वस्त्रों के धारण से वह प्राप्त नहीं होती। विविध प्रकार के भोजन एवं पार्टियों में उसका वास नहीं है।

सच्ची शान्ति कहीं प्राप्त होगी, तो वह अपने में ही प्राप्त होगी। अपने मन की अशान्त वृत्तियों को एक बार चारों ओर से हटाकर अपने में लगा दो। शान्ति के द्वार पर, सुख की देहली पर उस समय तुम अपने को पाओगे और आनन्द की झलक तुम्हें प्राप्त होगी।

मन की साधना से शान्ति

उस समय अनुभव होगा कि यह वह मन ही था, जो अतृप्त होकर, अशान्त होकर, चंचल होकर बार-बार तुम्हें नचा रहा था। तुम्हें उद्विग्न कर रहा था, तुम्हें अपने राग से रंजित कर राग द्वेष की भट्टी में झोंक रहा था। तुम उसके पीछे बिना विचारे दौड़ रहे थे। उसके वश में होकर संसार के मंच पर विनाशक नृत्य कर रहे थे। ऐसी भटकती हुई मानव जाति को वेद अपना दिव्य सन्देश दे रहा है :—

सं ते मनो मनसा, संप्राणः प्राणेन गच्छताम् ।

(यजुः अ० ६ । मं० १८)

अपना मन विश्व के विराट् मन से संयुक्त कर दो। वह दिव्य मन है। उसमें दिव्य भावनायें बह रही हैं। जब उस मन से तुम अपना मन संयुक्त कर दोगे, तो उस दिव्य मन के संकल्प, ज्ञानादि का आपमें भी प्रकाश आने लगेगा। उस वेगवान् प्रवाह से आपके मन के अन्दर जो निकृष्ट संकल्प हैं, वे नष्ट हो जायेंगे। जैसे नदी की वेगवती धाराओं के प्रवाह से, नदी किनारे के छोटे-छोटे गड्ढों के रुके हुए, सड़े हुए, मलिन जल बह जाते हैं और उनमें नवीन जल का प्रवेश हो जाता है, उसी प्रकार आपके मन भी उस दिव्य मन के संकल्प के वेगवान् प्रवाह से दिव्य हो जायेंगे। अतः सुख और शान्ति प्राप्त करने के लिये अपने मन को दिव्य मन के साथ लगाओ।

मन के साथ प्राण की साधना

अपने प्राणों को भी विश्व के प्राण के साथ संयुक्त करो। यदि हमारा आन्तरिक प्राण बाह्य जगत् के प्राण से संपर्क नहीं करेगा, तो हमारे प्राण विषयुक्त होकर हमारे जीवन को नष्ट कर देंगे। इसी क्रिया से हमारा जीवन स्वाभाविक रूप से चलता है। परन्तु यदि हम प्राण की इस विद्या में कुशल होकर इसका अभ्यास प्राणायामादि के द्वारा करेंगे, तो सामान्य स्थिति से बहुत अधिक रूप में हमारा प्राण विश्व के प्राण से संयुक्त होकर विविध प्रकार की शक्तियों की एवं जीवन की वृद्धि करने वाला हो जायेगा।

दीर्घ जीवन प्राणों पर ही आश्रित है। स्वास्थ्य सम्पादन प्राणों पर ही आश्रित है। जीवन का सुख प्राणों पर ही आधारित है। प्राण ही जीवन है। प्राण और मन दोनों ही मिलकर इस कायारूपी अपूर्व नगरी को स्वर्ग एवं नरक बना रहे हैं। इन्हीं से यह देह देव बन जाता है और इन्हीं से असुर और राक्षस भी बन जाता है।

मन को संस्कारवान् बनाने की आवश्यकता

आज मानव जाति का मन और प्राण उसके वश में नहीं है। वह दूसरों के संकल्पों एवं जीवन पर अपना आधिपत्य चाहता है।

परन्तु उसका स्वयं के मन एवं प्राण पर आधिपत्य नहीं। वह इसी कारण अपने को और परमात्मा को भी भुला बैठा है। जब उसके मन और प्राण अपने वश में होंगे, तभी वह आत्मोन्नति एवं परमात्मा की ओर बढ़ सकेगा, अन्यथा नहीं।

मन ही वह प्रथम केन्द्र है, जिस पर हमें सबसे प्रथम संस्कार डालना है। यहीं पर प्रथम चयन करना है, जिससे मन उस चयन से आवेष्टित होकर उसमें शक्ति प्राप्त करता हुआ अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर सुख और शान्ति के श्रेष्ठ मार्ग की ओर अग्रसर हो सके।

मन की साधना का मन्त्र एवं लाभ

मानव की दुर्बलता को देखकर वेद ने एक मन्त्रवाक्य 'मे मनः शिव संकल्पमस्तु' यह हमें दिया है। इस मन्त्र का जप करो। इसके अर्थ पर ध्यान दो। इस पर आचरण करो। इस संसार में यह मन्त्र तुम्हें वरदायक सिद्ध होगा। अपने मन को कल्याणप्रद, शुभ, श्रेष्ठ, उच्च, उदार एवं उत्तम संकल्पों का अजस्र स्रोत बनाओ। तुम्हारे मन की शिवसंकल्पधारा से संसार की रचना सर्वत्र कल्याण, आनन्द, मंगल, शुभ ही की स्थापना होगी तथा सर्वत्र इसी का साम्राज्य दृष्टिगोचर होगा। यही सन्मार्ग की कुँजी है। यही मानव जाति के कल्याण का राजपथ है।

मन की साधना से ही मनुष्य उन्नत होता है और उससे वह आत्म विज्ञान को प्राप्त करता है। अतः अध्यात्म विद्या में मन का अत्यन्त महत्त्व है। वेद ने इसकी शक्ति का परिचय देने एवं इसको नियन्त्रित करने के लिए सारथी की उपमा के साथ निम्न शब्दों में इसका वर्णन किया है :—

'सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव'

(यजुः अ० ३४। मं० ६)

जिस प्रकार से उत्तम सारथि अपने रथ के घोड़ों को चलाता है एवं लगाम से घोड़ों का संचालन होता है, तद्वत् यह मन मनुष्य देह को इतस्ततः प्रवृत्तियों में संचालित करता है। अतः मनको

सुनियन्त्रित एवं वश में रखकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर करना परमावश्यक है।

एकाग्रता से मन की साधना

मन की साधना के लिये वेद कहता है :—

'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याधरत्॥

(यजुः अ० ११। मं० १)

अर्थात् योगैश्वर्य का सम्पादक प्रथम मन को एकाग्र करता हुआ बुद्धीन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को तत्त्वज्ञान के लिए आत्मज्योति का साक्षात्कार करके पार्थिव पदार्थों से ऊपर उठता है।

इस मन्त्र में 'युञ्जानः प्रथमं मनः' इन शब्दों द्वारा मन को एकाग्र करने का उपदेश है, जो कि योग का आधारभूत प्रथम लक्षण एवं प्रथम कार्य है। मन को एकाग्र करना अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है। इसी को महर्षि पतंजलि ने योग के द्वितीय सूत्र में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इन शब्दों में लिखा है।

मन की एकाग्रता का लाभ

इस प्रकार की साधना से क्या होता है, इसका उत्तर इसी मन्त्र में अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य' जो आत्मज्योति या परमात्मज्योति है, उसका निश्चयात्मक ज्ञान होकर उसमें अवस्थित होते हैं। यही वर्णन महर्षि पतंजलि योग के तीसरे सूत्र 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' में लिखते हैं।

वृत्तियों के निरोध की आवश्यकता

मन की इस साधना के लिए—मन को परमात्मा में लगाने के लिये—वेद इस मन्त्र में कह रहा है 'पृथिव्या अध्याभरत्' अपने मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को पार्थिव पदार्थों अर्थात् सांसारिक दृश्य एवं वासनाओं से ऊपर उठाओ। ये बाह्य वृत्तियाँ ही मन को विचलित करती हैं। अतः 'सविता'—ऐश्वर्य की कामना वाले व्यक्ति को

'तत्त्वाय' परमतत्त्व के ज्ञान, दर्शन या प्राप्ति के लिए 'धियः' चित्त की वृत्तियों का निरोध करना चाहिये। यदि इन वृत्तियों का निरोध करके आत्मा या परमात्मा का दर्शन नहीं करेंगे, तो मन्त्र में पठित 'धियः' शब्द अपनी बहुमुखी वृत्तियों के कारण उन वृत्तियों से हमें चलायमान करता रहेगा। इसी स्थिति को योग-दर्शन के चतुर्थ सूत्र में 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' बताया है।

ये बाह्य वृत्तियाँ ही मन को इतस्ततः भटकाती रहती हैं। मन अशान्त बना रहता है। यदि उस समय हमें अपना लक्ष्य ध्यान में आ जाये और मन उस ओर न लगे तो हमें स्वयं प्रश्न करना चाहिये—

'कथं न रमते मनः' (अथर्व० काण्ड २०। सूक्त ७। मं० ३७)

अर्थात् मेरा मन परमात्मा में क्यों नहीं लगता है? इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करने पर हमें ज्ञात हो जायेगा कि अमुक वृत्तियों के कारण मन भटक रहा है। उसके ज्ञात होने पर उन वृत्तियों से अपने मन को हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार मन एवं उसकी वृत्तियों पर नियन्त्रण हो जाता है।

वृत्ति निरोध के लिए प्राणायाम की आवश्यकता

मन को वृत्तियों से हटाने एवं वश में करने के लिए वेद ने प्राणायाम का अभ्यास करने का उपदेश दिया है।

'प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा—व्यानाय स्वाहा'

(यजुः अ० २२। मं० २३)

शरीर में जो प्राण-अपान-व्यान-उदानादि विविध प्रकार के प्राण हैं, उन्हें यथावत् क्रिया से संगत करना चाहिए। इसी बात का ज्ञान कराने के लिए यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही 'वायवस्थ' प्राणन्तःकरणेन्द्रिय अपने शरीर में हैं, उनको श्रेष्ठतम कर्म-जीवन यज्ञ में अर्पित करने के लिए उपदेश दिया है। यजुर्वेद के अ० १८, मं० २९ में प्राणशक्ति को शरीरस्थ यज्ञ में अर्पित करने के लिए अर्थात् प्राणायाम का विधिवत् अभ्यास करने के लिए—"प्राणो यज्ञेन कल्पताम्" कहा है।

प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राण के वश में होने पर

मन वश में हो जाता है और मन के निरोध में सहायता होती है, जिससे मन को यथेच्छ स्थान या विचार में नियोजित किया जा सकता है।

आन्तरिक ज्योति की आवश्यकता

जिस प्रकार से हमें बाह्य जगत् के व्यवहार के लिए प्रकाश की आवश्यकता रहती है और उसके बिना हमारा कुछ भी कार्य नहीं चलता, इसी प्रकार आन्तरिक जगत् के लिए भी ज्योति की आवश्यकता है। ज्योति के बिना कुछ हो नहीं सकता, अतः आन्तरिक क्षेत्र में ज्योति की प्राप्ति आवश्यक है।

दिव्य मन अर्थात् बुद्धि के लिए वेद ने 'ज्योतिषां ज्योतिः' (यजुः अ० ३४ मं० १) कहा है। परन्तु इसका यह स्वरूप भी प्राणायाम, ध्यानादि के अभ्यास से ही प्राप्त होता है। हमारी यह ज्योति ठीक उसी प्रकार की है, जैसे सूर्य के सामने दीपक या सूर्य के सम्मुख तारागणों का प्रकाश है। अतः मन की ज्योति को अपने से महान् ज्योति की प्राप्ति का प्रयत्न करना पड़ता है। विश्वज्योति का दर्शन या उसकी प्राप्ति के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिये वेद ने प्रथम मन्त्र में उस अग्नि की खोज का उपदेश दिया। यह खोज मन से ही होगी, अतः वेद दूसरे मन्त्र में उपदेश देता है :—

आत्म ज्योति को धारण करें

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥

(यजुः अ० ११। मं० २)

अर्थात् उस परम देव सविता के संसार में प्रवर्त्तमान उसकी आज्ञा में या उस योगी विद्वान् की अध्यक्षता में हम एकाग्र मन से सुख लाभ के लिये अपनी सामर्थ्य से आत्मज्योति को धारण करें।

योग का अभ्यास मनुष्यों को करना चाहिए। परमात्मा की सृष्टि में यह प्रथम कार्य है और आवश्यक है। योग का उद्देश्य ही परमात्मा की प्राप्ति है। अतः योग शब्द इसी अर्थ में रूढ़ भी हो गया। लाक्षणिक अर्थों में उसका 'तात्पर्य योगः कर्मसु कौशलम' भी

किया जाता है। किन्हीं दो या अधिक का सम्मिलन अथवा एकत्रीकरण भी योग कहाता है।

योग से परमानन्द प्राप्ति

आज का भटका हुआ संसार योग से विमुख है। वेद उसे इस मार्ग का दर्शन कराता है। परमात्मा की जो वेद वाणी है, उसी की आज्ञा में प्रवर्त्तमान होकर तथा उसके अनुसार बताये मार्ग द्वारा जो योग में युक्त हैं, उनके संरक्षण या मार्गदर्शन में मोक्षपद प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। अर्थात् योग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है और उसके लिए 'युक्तेन मनस वय' हम सबको एकाग्र मन से उसमें संलग्न होना चाहिए, ऐसा वेद नें उपदेश किया।

मन को उपासना में लगायें

उस मन को कहाँ लगायें, इसके लिए वेद नें मन्त्र में बताया 'देवस्य सवितुः सवे' सकल जगत् के उत्पादक एवं प्रकाशक परमात्मा की आज्ञा में लगाना चाहिए। परमात्मा की आज्ञा क्या है, इसका उत्तर वेद से ही प्राप्त होता है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (यजुः अ० १३। मं० १४) हम उस सुखस्वरूप परमात्मा की सकल उत्तम सामर्थ्य से उपासना करें। उसकी उपासना से हम में बल, बुद्धि, तेज आदि सामर्थ्यरूपी धन प्राप्त होते हैं और ज्ञान तथा परमानंद रूपी महाधन भी प्राप्त होते हैं। इसी को वेद ने 'स्वर्ग्याय'—स्वर्ग, सुख विशेष, वह सुख आनंद विशेष जो लौकिक सुखों से परे, लोकोत्तर आनंद है, उसके लिये यह उपासना है, इसका मन्त्र में संकेत किया है।

उपासना के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं

परन्तु मन में प्रश्न होता है कि हम इस मार्ग को स्वीकार न करके, उस महान् ज्योति परमात्मा को प्राप्त न करके क्या अन्य प्रकार से मोक्ष को—परमानंद पद को—प्राप्त हो सकते हैं? इस

प्रश्न को समाधान वेद ने निम्न शब्दों में किया है :—

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (यजुः अ० ३१। मं० १८) अर्थात् उस परमपुरुष को जो ज्योति का महान् पुंज है, उसी को जान लेने पर जीव मृत्यु को तर जाते हैं और मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं। मन्त्र में 'तमेव' पद है, जिसका तात्पर्य उस एक का ही है और अन्य का निषेध है। इससे स्पष्ट है कि उसी परमात्मा को प्राप्त करने से मोक्षपद की प्राप्ति होती है, अन्य से नहीं।

वही परमात्मा हम जीवों के लिये उपास्य है, ज्ञेय है, प्राप्तव्य है। वही हमारे जीवन का परम लक्ष्य है। उसी की साधना करने से लक्ष्यपूर्ति होगी। इसी भाव को और स्पष्ट करने के लिए वेद ने कहा :

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (यजुः अ० ३१। मं० १८)

अर्थात् परमात्मा प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य दूसरा मार्ग मोक्ष प्राप्ति का नहीं है। वही परमात्मा आनंद का परम धाम है और उसी को प्राप्त करने से उस मोक्षपद की प्राप्ति होती है। अतः हमारा लक्ष्य उस परमात्मा को जानने का तथा उसे प्राप्त करने का होना चाहिए। उसी के लिये योग का उपदेश वेद ने दिया।

परमात्मा को भूलने से मानव भटक रहा है

आज का मानव परमात्मा को भूलकर ही नहीं, अपितु परमात्मा के अस्तित्व को भी अमान्य करके अपने अस्तित्व को ही प्रधानता दे रहा है। जब उसकी दृष्टि में परमात्मा कोई तत्त्व ही नहीं, तो उस की दृष्टि में यह दृश्यमान संसार ही सब कुछ है। उसके लिए वह स्वयं है और संसार है। वह उसका अनेक प्रकार से भोग करने में लगा हुआ है। संसार के भोग उसे बार-बार थका देते हैं। आशा और निराशा, इच्छा और तृप्ति से संयोग-वियोगात्मक रूप में मन इधर-उधर दौड़ता रहता है और उसे वास्तविक शान्ति और वास्तविक आनंद की प्राप्ति हो नहीं पाती। वेद के मार्ग पर आये बिना 'देवस्य सवितुः सर्वे' के बिना उसको चिर शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

वेद योग का प्रतिपादन करते हुए पुनः उपदेश देता है :—

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्य्यतो धिया दिव ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।।

(यजु: अ० ११ । मं० ३)

अर्थात् सुख एवं आत्मप्रकाशोन्मुख इन्द्रियों को प्रजा तथा कर्म से संयुक्त करके, प्रेरक बन, ऐश्वर्यवान् योगी महान् आत्मज्योति सम्पादिका इन्द्रियों को प्रेरित करें ।

प्रत्याहार

इस मन्त्र में आत्मप्रकाशोन्मुख इन्द्रियों के प्रज्ञा तथा कर्म से संयुक्त करने के प्रयत्न की ओर बढ़ने का संकेत किया है । इन्द्रियाँ अब आत्मप्रकाशोन्मुख हो जाती हैं, बाह्य विषयों की ओर से वे वैराग्य स्थिति प्राप्त कर लेती हैं और उधर से प्रत्यावर्तित होकर ही अन्तर्मुख होने की स्थिति में होती हैं । योगदर्शन में इस स्थिति को प्रत्याहार कहा है । प्रत्याहार के बिना योग में प्रवेश नहीं होता ।

जीवन को योग यज्ञमय बनावें

इन्द्रियों को आत्मप्रकाशोन्मुख करने के लिए निम्न मन्त्र में योग यज्ञ का वर्णन प्राप्त होता है :—

'आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां, चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬश्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां, पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां, यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् ।
प्रजापतेः प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम ।।

(यजु: अ० ९ । मं० २१)

आयु को योग यज्ञ से सम्पन्न करने में प्राणों का महत्त्व

हम अपनी आयु को योग यज्ञ से समर्थ बनायें । योग यज्ञ से समर्थ बनाने के लिए प्राण को योग यज्ञमय बनाना होगा । प्राण को योग यज्ञमय बनाने के लिए प्राणों को होता बनाना होगा । प्राण अग्नि है । अग्नि होने से पुरोहित है । पुरोहित होने से सर्वार्थसाधक भी है । गतिशील है । तेजस्वी है । दूतवत् भी है । शरीरयज्ञ का

वह आराध्य देव है। इस शरीर के अन्दर विविध प्रकार की ऋतुओं का निर्माता है। उसी से इस जीवन में वसन्त की बहार आती है। रूप-लावण्य, दिव्यता आदि सब इसी की महिमा से अपना हास्य प्रकट करता है। इसी प्राण की महिमा से इस देह में प्रचण्ड गरमी, उष्णता, ताप, तेज, ओज, मन्यु, भानः, स्वराड्, दीप्ति, ज्योतिः का आविर्भाव होता है और इसमें विराजता है। इसी प्राण के ही कारण इस शरीर में सप्त धातुओं की वर्षा होती रहती है और इसका जीवन वृद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह प्राण ही शरीर में विविध ऋतुचक्र को चला रहा है। जब यह नहीं रहता तो शरीर का यह सब ऋतुचक्र समाप्त हो जाता है।

यही प्राण इस शरीर में होता बनकर बैठा है और जब तक यह होता बनकर बैठा है, यह शरीर रत्नों का कोष है। प्राण के निकलते ही यह शरीर रत्नों का कोश नहीं रहता। केवल मृत्तिका का रूप रह जाता है और इतना गुण रहित रह जाता है कि भस्म कर दिया जाता है। अतः वास्तव में यह शरीर प्राणों से ही गुणवान्, रत्नवान् बना हुआ है।

यही प्राण होता है। होता के गुणों को देख एवं समझकर इस प्राण को यज्ञ से संयुक्त करें। होता का अर्थ है हव्य पदार्थों का दाता और गृहीता। दान और ग्रहण ये अग्नि के गुण हैं। अग्नि में दी हुई आहुति को अग्नि अपने में ग्रहण कर लेती है। पुनः उसका दान करके सर्वत्र प्रसारित कर देती है। इसी प्रकार हम भी प्राण का ग्रहण और संकल्प प्रयत्नपूर्वक करें। अपने संकल्प और प्रयत्न-पूर्वक प्राणों को लेने और छोड़ने के कार्य की प्राणायाम संज्ञा है।

प्राणों के लेने और छोड़ने की विधि भेद से तथा उसके साथ काल का विविध प्रकार से जो प्रयोग है उसी से प्राणायाम के अनेक भेद हो जाते हैं। प्राण के इन्हीं विविध प्रकार के अभ्यासों से ही 'प्राणो यज्ञेन कल्पताम्' सार्थक होता है।

नेत्रों से योग यज्ञ

इस प्रकार प्राणों के यथावत् अभ्यास से अर्थात् उसमें होतृत्व

जागृत् करने से 'चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम्' नेत्र यज्ञ से सम्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् दोनों नेत्र भूमध्य में अपनी दर्शन शक्ति से अपने दिव्य कार्य अन्तर्ज्योति का दर्शन करते हैं। तब 'प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः' योग दर्शन के सूत्र के अनुसार की स्थिति प्राप्त होती है।

श्रोत्रों से योग यज्ञ

ज्योति के दर्शन के साथ पुनः 'श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम्' श्रोत्रों को भी योग यज्ञ में लगाना चाहिए, जिससे आन्तरिक शब्द, अनहृत, दिव्य शब्दों का श्रवण होने लगता है। इसी प्रकार शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय को योग यज्ञ के साथ संयुक्त करना चाहिए। इस शरीर रूपी यज्ञशाला में इस प्रकार सम्पादन करते हुए।

पृष्ठवंश से योग यज्ञ

'पृष्ठं यज्ञेन कल्पताम्' स्थिति को भी प्राप्त करना चाहिए। इन्द्रियों में संयम करके पृष्ठवंश में जो नाड़ियों के केन्द्र हैं, जिनका सम्बन्ध मूलाधार चक्र के सहस्रार चक्र तक है, वही नाड़ी जाल ही, जो योगयज्ञ का वास्तव में मेरुदण्ड है, उसके अन्दर प्राणों को प्रवेश कराता है। यही सुमेरु है। सुमेरु के एक भाग पर सूर्य है और दूसरी ओर चन्द्र है। इस सुमेरु की प्रदक्षिणा योगी के प्राणरूपी सूर्य और चन्द्र करते हैं। इन्हीं सूर्य और चन्द्र से योगी के दिन एवं रात्रि का निर्माण होता है। उन्हीं अहोरात्रों से पक्ष, मास, ऋतु, अयन एवं संवत्सर चक्र अध्यात्म पक्ष के बनते हैं। इस प्रकार योगी के यज्ञों से उसका जीवन यज्ञ बनता है।

योगयज्ञ से प्रजापति के साम्राज्य में प्रवेश

जब सर्वात्मना योगी इस प्रकार योगयज्ञ में अपने प्राण, मन व इन्द्रियों की आहुति दे देता है, वह 'प्रजापतेः प्रजा अभूम' प्रजापति परमात्मा के साम्राज्य में उसकी प्रजा बनकर प्रवेश कर जाता है और अपने स्वामी के दर्शन करने का अधिकारी हो जाता है। उस

स्वामी के साम्राज्य में उसकी प्रजा आसुरी नहीं होती। योगी के अन्दर से सब आसुरी भावों के नष्ट होने एवं दैवी भावों के जाग्रत होने से सब इन्द्रियाँ देवत्व को प्राप्त हो कर 'यज्ञस्व देवं' के भाव को प्रकट करती हैं और देवरूप होकर सुख एवं ज्योति को प्राप्त करती हैं, जिसे मन्त्र में 'स्वर्देवा अगन्म' कहा है।

इस स्थिति से जब योगी और आगे बढ़ता है, 'अमृता अभूम' यह कहता है। हम अमृत को—मोक्ष को—प्राप्त हों, यही वास्तव में आनन्द की पराकाष्ठा है। इससे आगे कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता। जो प्राप्त करना है, वह यहीं प्राप्त होता है।

धारणा

पूर्व वर्णित यजुर्वेद के एकादश अध्याय के तृतीय मन्त्र में प्रत्याहार का उपदेश प्राप्त हो जाने के बाद चतुर्थ मन्त्र में धारणा का निम्न प्रकार उपदेश प्राप्त हो रहा है:—

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

(यजु० अ० ११। मं० ४)

इस मन्त्र में योग के साधक के लिए होत्रा और विप्राः ये विशेषण दिये हैं। होत्रा का इस योग विद्या में तात्पर्य है, जो प्राणों को छोड़ने एवं ग्रहण करने वाले हैं अर्थात् प्राणायाम का अभ्यास करने वाले हैं। साथ में विप्राः अर्थात् बुद्धि की साधना में जो लगे हैं। इन दोनों प्रकार के विशेषणों से युक्त साधक को चाहिए कि वह योगसाधन के लिए 'मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः' सब जगत् को उत्पन्न और सबके प्रकाशक जगदीश्वर की सब प्रकार की स्तुति है, उस तत्त्वज्ञान के विषय में 'युञ्जते' मन उत युञ्जते धियः अपने मन और बुद्धियों को युक्त करते हैं। मन और बुद्धियों को परमात्मा के तत्त्वज्ञान में लगाने की क्रिया योग की परिभाषा में धारणा कही जाती है। 'देशबन्धश्चित्तस्य' धारणा (योगदर्शन, विभूतिपाद सूत्र १) सूत्र में चित्त को देश विशेष में बाँधने को धारणा बताया है। इस वेद मन्त्र में मन और बुद्धियों को परमात्मा के तत्त्वज्ञान में लगाने का

आदेश है। अतः यह धारणा की साधना का उपदेश है।

ईश्वर प्राणिधान

परमात्मा के इस तत्त्वज्ञान में, उसकी महती परिष्टुति में, उसके गुणों का चिंतन योगदर्शन की परिभाषा में 'ईश्वर प्राणिधानाद्वा' में, (योगदर्शन समाधिपाद सू० २३) की स्थिति है। इसी स्थिति में और अधिक प्रवेश करने लिए वेद कहता है :—

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥
(यजु० अ० ११। मं० ५)

अर्थात्-'युजे वां ब्रह्म, मन और बुद्धि तुम दोनों को ब्रह्म में लगाता हूँ। जो ब्रह्म 'पूर्वयं' अर्थात् पूर्व योगियों ने प्रत्यक्ष किया है, उसे नमोभिः अर्थात् नमन से, सत्कारों से अपने आत्मा में युक्त करना चाहिए। उसके प्रति अपने हृदय में श्रद्धा जागृत करनी चाहिए। यह नमोभिः पद परमात्मा के विविध गुणों का स्मरण और उसके श्रद्धायुक्त नमस्कार की भावना का द्योतक है।

जप

परमात्मा के गुणों का बार-बार स्मरण ही जप कहलाता है। परमात्मा के नाम का बार-बार स्मरण करना चाहिए। नाम स्मरण के लिए वेद ने उपदेश किया है :

ओ३म् क्रतो स्मर। (यजु० अ० ४०। मं० १५)

अर्थात् हे कर्मशील जीव ! तू इस जीवन को प्राप्त कर उस प्रभु के मुख्य नाम ओ३म् का स्मरण कर।

बार-बार श्रद्धापूर्वक ओ३म् का जाप करने से 'ओम्प्रतिष्ठ' (यजु० अ० २। मं० १३) साधक के प्राण, मन, बुद्धि, हृदय तथा ध्यान में श्रद्धापूर्वक ईश्वर की प्रतिष्ठा-स्थिति होती है तभी साधक की साधना आगे बढ़ती है।

योगदर्शन में इसी रहस्य को खोलने के लिए 'तस्य वाचकः प्रणवः (समाधि पाद। सूत्र २७) कहा है। अर्थात् उस परमात्मा

का नाम ओ३म् है। इस नाम को स्मरण करने से परमात्मा के अन्य सब नामों का बोध हो जाता है और विविध नामों से जो स्तुति उस परमात्मा की की जाती है, उस सबकी पूर्णता इससे होती है। इस-लिए, तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगदर्शन, समाधिपाद । सू० २८) उस परमात्मा के ओ३म् नाम का स्मरण नाम के अर्थ के चिन्तन के साथ करना चाहिए, यह उपदेश किया है, जिसे वेद नें मन और बुद्धि को लगाकर तथा नमोभिः पद से स्पष्ट किया है।

यम-नियमों के अनुष्ठान की आवश्यकता

ऐसा करने से साधक जिस स्थिति को प्राप्त होता है, उसके लिए मन्त्र में 'श्लोकः' पद है। अर्थात् सत्यवाणी से संयुक्त इस प्रकार का हो जाता है। साधक को स्वयं भी 'श्लोकः' सत्यवाणी तथा सत्य व्यवहार का अनुष्ठान करके अपनी साधना करनी चाहिए।

'श्लोकः' अर्थात् पुण्य, पवित्र, सत्य व्यवहार वाला बनने के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन यमों का तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान इन नियमों का पालन करना चाहिए। यदि साधक की साधना यम नियमपूर्वक नहीं है, तो मन और बुद्धि अशुद्ध, मलिन, असत्य, बाह्य वृत्तियों में रत रहेंगे और साधना सम्पन्न नहीं हो सकेगी।

योगांगों के अनुष्ठान की आवश्यकता

यह योगविद्या का यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि का मार्ग 'पश्येव सूरेः' अर्थात् विद्वान् को उत्तम गति के लिए प्राप्त होता है। यह उत्तम मार्ग की गति मोक्ष प्राप्त कराती है। इस मार्ग पर आरुढ़ होकर 'विश्वे पुत्राः अमृतस्य दिव्या निधा-मानि जातस्थुः' सब श्रेष्ठ पुत्र जो उस परम पिता परमात्मा की आज्ञा के अनुरूप व्रत कर अविनाशी ईश्वर के योग से सुख के प्रकाश में होने वाले स्थानों को प्राप्त होते हैं। उन साक्षात्कृतधर्मा योगियों से इस योग विद्या को सरहस्य 'शृण्वन्तु' सुनें, प्राप्त करें एवं अभ्यास करें अर्थात् योगी के संग योग विद्या प्राप्त करनी चाहिए।

बाह्य यज्ञ, योग यज्ञों की साधनार्थ है

इस प्रकार यजुर्वेद के ११वें अध्याय का यह पंचम मन्त्र यम, नियम, धारणा, ध्यान, समाधि, आदि योगांगों का प्रकाश करता है। यही योगयज्ञ वास्तव में यज्ञ है। बाह्य यज्ञों में इसी योगयज्ञ के मूल तत्त्वों की स्थापना करके अभ्यास कराया जाता है। दर्शेष्टि से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से यद्यपि बाह्य कर्मकाण्ड किया जाता है, परन्तु वह सब आन्तरिक योगयज्ञ की साधना के लिए साधन रूप से ही है। जो कोई साधक इस रहस्य को न समझकर बाह्य कर्मकाण्ड में ही लगा रहता है, वह भस्म में आहुति देने के तुल्य क्रिया करता करता है। उसका यह कर्मकाण्ड वास्तव में निष्फल है। परमात्मा के शाश्वत यज्ञ की वृद्धि के साथ हमारा योगयज्ञ भी वृद्धि को प्राप्त होता रहे, इस निमित्त वेद ने कहा है।

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यपज्ञंति भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥
(यजु० अ० ११। मं० ७)

अर्थात् हे (देव) सत्य विद्या से उपासना के योग्य शुद्ध ज्ञान देने वाले और (सविता) सब सिद्धियों को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर आप (न) हमारे (यज्ञम्) सर्वश्रेष्ठ सुखरूपी फल मोक्ष को प्राप्त करने वाले योग व्यवहार रूपी यज्ञ को (प्रसुव) अच्छी प्रकार हममें प्रकट कीजिए। उसकी नाना प्रकार से प्रेरणा देते रहिए। तथा (यज्ञपतिम्) इस योग्य यज्ञ के रक्षक, पूर्ण ज्ञाता ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानियों को भी (प्रमुख) उत्पन्न कीजिए। हे परमेश्वर! आप (गन्धर्वः) पृथिवी को धारण करने वाले हैं, जिसके आश्रय से हम इस पर स्थिर होकर अपना सब योगयज्ञ करते हैं। यह इसीलिए देवयजनि है। इस पृथिवी के आश्रित ही हम इसमें वेदी बनाकर उसमें अग्नि स्थापित करते हैं और उस अग्नि में हवि डालकर उसे प्रदीप्त करके प्रकाश प्राप्त करते हैं। वह अग्नि ऊपर को बढ़ती है और प्रकाश का विस्तार करती है। इसी प्रकार हमारा यह शरीर भी भूमि क्षेत्र है। इस भूमि या क्षेत्र में मूलाधार चक्र पृथिवीवत् है। इस मूलाधार चक्र

को देवयजनि बनाने के लिए इसकी शुद्धि करनी होगी। इसमें प्राण एवं ध्यान के आघातों से वेदी बनानी होगी और उस वेदी में योगाग्नि की स्थापना करनी होगी। यही उन्नत दीप्तियुक्त होकर (केतेनः पुनातुः) हमारे ज्ञान को पवित्र करे। यह दीप्ति (केतपूः) है पवित्र ज्ञान वाली है। क्योंकि यह परमात्मा से सम्बन्धित है। अतः परमात्मा भी केतपूः है परमात्मा भी दिव्य शुद्ध गुण कर्म स्वभावों में सर्वोत्तम है तो यह योगाग्नि भी उसका अंश होने से योगी जनो में शुद्ध, गुण, कर्म, स्वभाव को उत्पन्न करती है। यह योगाग्नि (वाचस्पतिर्वाचनः स्वदतु) हमारे मानसिक जप एवं ध्यान द्वारा हमारी मानसिक वाणियों को अच्छी प्रकार ग्रहण करे, उनके रस-युक्त तथा पवित्र करे।

योग यज्ञ से परमानन्द की प्राप्ति

इस योगाग्नि के माध्यम से हम जिस महनीय, सर्वतो महान् परमात्मा की अर्चना, साधना' उपासना कर रहे हैं, वह परमात्मा भी हमारे इस योग यज्ञ में हमारी धारणा, ध्यान, समाधि की साधना में अवलम्बरूी वाणी, ध्वनि या शब्द का अच्छी प्रकार ग्रहण करे, जिससे हमारी शब्द माध्यम से, वाचिक, या मानसिक वाणियों द्वारा या धारणा, ध्यान, समाधि की पश्यन्ती एवं परा वाणियां सुमधुर बनें और हम उसके माध्यम से परमानन्द का रसास्वादन करते रहें।

आनन्द परमात्मा में है

योग के द्वारा अपना ज्ञान, सृष्टि का ज्ञान और परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है। साधक का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है। आन्नद की प्राप्ति के लिए ज्ञान साधक है। ज्ञान की साधना के लिए विविध प्रयत्न आवश्यक हैं। पूर्ण आनन्द की प्राप्ति प्रकृति से नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकृति में आंनन्द गुण नहीं है। वेद कहता है :—

उतामृतत्वस्येशानः

(यजु० अ० ३१। मं० २)

अर्थात् वह परमात्मा मोक्ष का भी अधिष्ठाता है, पूर्णानन्द रूप मोक्ष का वही स्वामी है और

त्रिपादस्यामृतं दिवि

(यजु० अ० ३१। मं० ३)

उस आनन्द के स्वामी परिपूर्ण आनन्दमय परमात्मा का तीन भाग अमृतत्त्व मोक्ष सुखमय है। सृष्टि के तत्त्वों के माध्यम से जो कुछ भी क्षणिक सुख लाभ होता है, उसमें भी सुख का मूलकारण परमात्मा का ही है। क्योंकि सृष्टि का जितना भी क्षेत्र है, वह तो उसी पूर्ण पुरुष, परब्रह्म का एक चतुर्थ अंश मात्र है अर्थात् संसार के सम्पूर्ण भोगों में जितना भी आनन्द है, वह सब मिलकर मोक्ष के आनन्द से अति न्यून है। इस स्थिति का ज्ञान देने के लिए वेद नें कहा—

पादोऽस्याविश्वा भूतानि

(यजु० अ० ३१। मं० ३)

यह जो समस्त दृश्य एवं अदृश्य जगत् है, वह तो एक चतुर्थांश मात्र है। अतः स्पष्ट है कि सृष्टि की परिधि में जो कुछ भी आनन्द जिस किसी भी माध्यम से अनुभूत होता है, वह उसी आनन्द-मूलक परमात्मा के कारण ही है।

योग से ऐश्वर्य प्राप्ति

परमात्मा ने इस मानव देह को सृष्टि के सार रूप तत्त्वों से बनाया है। अतः परमात्मा को चाहनें वालों को इस शरीर को साधन बनाकर अत्यन्त श्रद्धा, प्रेम एवं प्रयत्न से इस शरीर में साधना करनी चाहिए जैसा वेद ने कहा है :—

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन्पाहि सोमम्।
उरुष्य राय एषो यजस्व।

(यजु० अ० ७। मं० ४)

अर्थात् योगविद्या के जिज्ञासु जनों को चाहिए कि यम नियमादि योग के अंगों से चित्त आदि अन्तःकरण की वृत्तियों को रोकें और अविद्यादि दोषों का निवारण करके संयम से ऋद्धि-सिद्धियों, धन

और इच्छा से सिद्धियों को सिद्ध करें।

मन्त्र में 'उपयामगृहीतोसि, अन्तर्यच्छ, सोमं पाहि, उरूष्य राय एषो यजस्व' आदि सब वाक्य योगैश्वर्ययुक्त विद्वान् के लिए या योग के जिज्ञासु के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। उस व्यक्ति को 'मघवा' कहा है। जिस प्रकार से इन्द्र ऐश्वर्य का स्वामी है, देवों का राजा है, उसी प्रकार से जो योगी 'उपयामगृहीतोऽसि' यमनियमादि से अपने को सुनियमित किए हुए है, अपनी देव रूपी इन्द्रियों को वश में करके उनका स्वामी बना हुआ है और अपने शरीर में उत्पन्न वीर्यरूपी सोम का ऊर्ध्वरेता बनकर शिरस्थ प्राण इन्द्रियों आदि के साथ स्वयं पान कर रहा है, उसके अविद्यादि क्लेश सब भस्म हो जाते हैं, वह अपने अन्दर के सब महान् खजाने को जिसे वेद ने 'रायः' कहा है, प्राप्त कर लेता है और इषः इच्छा-सिद्धियों को भी प्राप्त कर लेता है। अतः वेद कहता है पहले 'उपयामगृहीतोऽसि' इस पर आचरण करके यमनियम का व्रत धारण करो। तत्पश्चात् अन्तर्यच्छ, भीतर जो प्राणादि, मन, इन्द्रियाँ आदि हैं। उन्हें वश में करो एवं अन्दर प्रवेश करके अन्तर्मुख होओ। अन्तर्मुख होने पर शरीरस्थ सोम की रक्षा करते हुए उनसे अपने मन, प्राण, इन्द्रियों आदि को दिव्य तेज से पूरित कर दो और 'उरूष्यः' केवल शरीर, प्राणादि की पुष्टि ही न करो, अपितु जो अविद्यादि क्लेश हैं, उन्हें योगविद्या के बल से नष्ट कर दो। ऐसा करने पर योगी अपने अन्दर छिपे हुए खजाने और गुप्त शक्तियों को प्राप्त कर लेता है।

अन्तर्मुख वृत्ति से विश्व का ज्ञान

वेद ने इस मन्त्र में अन्तर्यच्छ कहकर अन्तर्मुख होने का उपदेश किया है। अगला मन्त्र योगी को बताता है कि तेरे अन्दर क्या-क्या है :—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
रसजूर्देवेभिर्वरैः परैश्चान्तर्य्यामे मघवन् मादयस्व ॥

(यजु० अ० ७। मं० ५)

हे मघवन् योगी ! परमेश्वर ने तेरे अन्दर सूर्य और पृथिवी को

स्थापित किया हुआ है। तू अपने अन्दर के सूर्य को देख। उसमें ध्यान लगाकर तू सूर्य का ज्ञान-विज्ञान प्राप्त कर सकता है। जब तू अपनी सूर्य नाड़ी में संयम करेगा, तो जिस प्रकार से सूर्य के प्रकाशित होने पर सब लोक प्रकाशित हो जाते हैं और उन्हें प्राण प्राप्त होता है, उसी प्रकार तुझे भी सब लोकों का ज्ञान प्राप्त हो जाएगा। इस स्थिति को योगदर्शन में 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्'। (विभूतिपाद सू० २६) लिखा है। ब्रह्माण्ड में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् ये सप्तलोक या दैवी स्थितियां, अवस्थाएँ हैं जिनमें मनुष्य क्रमशः उत्तरोत्तर उच्च स्थिति, दैवी स्थिति को प्राप्त करता जाता है। इसके अतिरिक्त जो लोक या स्थितियाँ हैं, वे निम्न कोटि की हैं। समस्त ब्रह्माण्ड में जीव किसी न किसी स्थिति में रहते हैं। अतः उसका ज्ञान योगी को हो जाता है, क्योंकि परमात्मा ने हमारे देह में सूर्य को अर्थात् कारण समष्टि प्राण रूप सूर्य को स्थापित किया है।

इसी प्रकार उस परमात्मा ने इस शरीर में सूर्य के अतिरिक्त पृथिवी को भी स्थापित किया है। पृथिवी वैदिक साहित्य में 'ध्रुवा पृथिवी' है। अर्थात् ध्रुव का नाम पृथिवी भी है। केन्द्रीय स्थिरत्व एवं उसके आकर्षणानुकर्षण से लोकों की जो विविध गतियाँ हैं, उनका ज्ञान पृथिवी तत्त्व में अपने में संयम, धारणा, ध्यान, समाधि से प्राप्त होता है। योगदर्शन में इसी स्थिति को ध्रुवैतद्गतिज्ञानम्। (विभूतिपाद सू० २८) इन शब्दों में कहा है।

वेद ने पुनः रहस्य का उद्घाटन करने के लिए इस मन्त्र में कहा 'दधामि उर्वन्तरिक्षम्' तेरे अन्दर महान् विस्तृत अन्तरिक्ष को भी स्थापित किया हुआ हैं। इस अन्तरिक्ष में संयम कर। चन्द्र, नक्षत्र, तारागण आदि सब अन्तरिक्ष के कारण एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् तथा अविरोधी रहते हुए विचरण कर रहे हैं। इस महान् अन्तरिक्ष में संयम करो, चन्द्र, नक्षत्र, तरागणों का ज्ञान भी तुम्हें प्राप्त होगा। तेरे घट में सब कुछ है।

तुम्हारी बाह्य दृष्टि इस समस्त ब्रह्माण्ड का दर्शन नहीं कर सकती। परन्तु तुम अपने घट में अन्तर्मुख होकर अन्तर्ज्योति से उस

सबका साक्षात्कार कर सकते हो। आज सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागणों के ज्ञान प्राप्त करने के लिए अरबों रुपये भी अपर्याप्त हैं। परन्तु वेद इन सब के ज्ञान के लिए और इनके दर्शन के लिए उपदेश कर रहा है कि तू बाहर कहाँ भटक रहा है। थोड़ा-सा प्रयत्न कर। सब कुछ अन्दर ही देख ले। योगदर्शन ने अन्तरिक्ष ज्ञान के बारे में लिखा, चन्द्रताराव्यूहज्ञानम्। (विभूतिपाद सूत्र २७) अर्थात् चन्द्र नाड़ी में संयम करने से योगी को चन्द्र तारा, नक्षत्रादि का ज्ञान प्राप्त होता है।

सूर्य और पृथिवी के मध्य बाह्य जगत् में चन्द्रमा का दर्शन होता है। अतः चन्द्र शब्द अन्तरिक्ष स्थानीय होने से वेद ने इसके ज्ञान की प्राप्ति का उपदेश दिया। कारण समष्टि प्राणरूप सूर्य और स्थूल समष्टि रूप पृथिवी के मध्य चन्द्रमा जीव अथवा मन के रूप से चन्द्र-दर्शन का अर्थ जीवात्मा दर्शन है।

वेद ने इस मन्त्र में जीवन के लिए सजूः शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि परमात्मा इसका मित्र है। इस प्रकार का योगी देवेभ्यः, विद्वानों के विद्या को प्राप्त करके अथवा शरीर के अन्दर जो ३३ देवता निवास करते हैं, उनका अपनी योग साधना से ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करके 'अवरैः परैश्च अन्तर्यामे मादयस्व' अपने से जो न्यून स्थिति वाले हैं और जो अपने से अधिक योगैश्वर्य वाले हैं, उनसे 'अन्तर्यामे' योग प्रवृत्ति से अन्तर्मुख होकर बारम्बार उपासना योग में निमग्न होकर आनन्द प्राप्त करके उन सबको भी मादयस्व परमानन्द का प्रसाद वितरित करके प्रसन्न किया कर।

इस प्रकार वेद मन्त्र योगी को केवल अपने ही हितचिन्तन का उपदेश नहीं करता, अपितु सबको उस प्रभु की ओर चलने के लिए प्रेरित करता है।

सिद्धि प्राप्त मन को परमात्मा के अर्पण करें

योग की पूर्वोक्त सिद्धियाँ मन्त्र के संयम से ही प्राप्त होती हैं। उस मन को योग समाधि में स्वाहा करने से दैवी एवं पार्थिव ज्ञान, सिद्धि, शक्तियां प्राप्त होने से योगी परमात्मा का प्रिय, स्वीकरणीय

बन जाता है, इसका उपदेश निम्न मन्त्र में वेद कर रहा है :—

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽ इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्य्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य ऽउदानाय त्वा

(यजु० अ० ७। मं० ६)

हे (सुभव) शोभन ऐश्वर्ययुक्त योगिन् ! तू (स्वाङ्कृतोसि) अनादिकाल से स्वयंसिद्ध है, अतः अपने योग विद्या के पूर्व अनुष्ठान के प्रयत्नों से तू युक्त है। तू (दिव्येभ्यः विश्वेभ्यः देवेभ्यः मरीचिपेभ्यः) शुद्ध, समस्त प्रशस्त गुणों और योग के प्रकाश से युक्त है, इसीलिए (त्वा) तुझको परमात्मा स्वीकार करता है। (पार्थिवेभ्यः त्वाः) पार्थिवादि पंच तत्त्वों एवं पृथिव्यादि लोकों के योग ज्ञान से युक्त होने से परमात्मा तुझे स्वीकार करता है। तू (सूर्याय) सूर्य नाड़ी में संयम करके ज्ञानी एवं तेजस्वी बना है, अतः परमात्मा तुझे स्वीकार करता है। (उदानाय त्वा) उदान का जय करके उच्च स्थिति प्राप्त की है अतः तुझे परमात्मा स्वीकार करता है, क्योंकि इस सब साधना का जो मूल अभ्यास (मनः स्वाहा अष्टु) मन को योगयज्ञ में हुत कर देने का है उसे प्राप्त किया है। अर्थात् जब तक मन को योगयज्ञ में पूर्ण रूप से परमात्मा को अर्पित नहीं कर देते, तब तक परमात्मा उसका वरण नहीं करता। 'यमैवैष वृणुते तेन लभ्यः' यह उपनिषद् उक्ति उसी दशा में चरितार्थ होती है।

परमात्मा द्वारा वरण

यद्यपि योग में अपना संयम-नियम अनुष्ठान काम देता है, परन्तु जब उसे परमात्मा स्वीकार करता है, तो परमात्मा की कृपा की वृष्टि से धर्ममेघ समाधि भी प्राप्त होती है। जब अपना प्रयत्न प्रभु को स्वीकार हो जाता है, तो यही सबसे उच्च आनन्ददायक स्थिति होती है। योग की इस स्थिति का वर्णन वेद का निम्न मन्त्र कर रहा है :—

महाँ२ इन्द्रो यऽओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ२ऽइव।
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे।

(यजु० अ० ७ मं० ४०)

जिस प्रकार से वृष्टि को प्राप्त कर वनस्पतियाँ अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार योगीजन की स्तुतियों से महान् ऐश्वर्य-वान् परमात्मा अपने अनन्त बल से अपूर्व वृष्टि करता है, जिससे योगी पुरुष का योग अत्यन्त वृद्धि एवं पुष्टि को प्राप्त होता है। तब परमात्मा की ओर से यह धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है, जिससे योगी के सब क्लेश दूर हो जाते हैं।

योग से उच्च स्थिति की प्राप्ति

योगी योगयज्ञ द्वारा उत्तरोत्तर उच्च स्थितियों को प्राप्त होता है। इसका वर्णन वेद के निम्न मन्त्र में है :—

पृथिव्या ऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥

(यजु० अ० १७। मं० ६७)

अर्थात् योग के अंगों के अनुष्ठान, संयमादि की साधना से धारणा, ध्यान और समाधि में परिपूर्ण होने पर मैं पृथिवी से अन्तरिक्ष को प्राप्त होऊं। अन्तरिक्ष में पहुँचने के पश्चात् अन्तरिक्ष से प्रकाशमान सूर्यलोक को चढ़ जाऊँ। सुख देने वाले प्रकाशमान् उस सूर्यलोक से अत्यन्त सुख और ज्ञान के प्रकाश को मैं प्राप्त होऊँ।

जैसा वेद के पूर्व मन्त्रों से बताया गया कि इस शरीर में भी पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ और स्वः लोक हैं, तदनुसार योगी क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म, उन्नत ज्ञान तथा प्रकाशमय एवं आनन्दमय स्थितियों को प्राप्त करता है।

शरीर का पादस्थानीय भाग ही पृथिवी है, जैसा कि पद्भ्यां भूमिः (यजु० अ० ३१। मं० १३) में वर्णित है। अन्तरिक्ष स्थानीय भाग शरीर का मध्य भाग नाभि केन्द्र से कण्ठ तक का है, जैसा कि नाभ्या आसीदन्तरिक्षम् तथा शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत (यजु० अ०३१। मं० १३) में शिर को द्युस्थानी बताया है। इसी प्रकार स्वर्लोक भी शिर में सहस्रारचक्र है।

मानसिक यज्ञ

बाह्य यज्ञों की क्रियाओं को आन्तरिक योगयज्ञ में आरोपित करने का उपदेश निम्न मन्त्र में है :—

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन । (यजु० अ० १७ । मं० ७८)

जिस प्रकार से यज्ञ में घृत की आहुति देते हैं, उसी प्रकार योग-यज्ञ में मन रूपी घृत के साथ चित्तरूपी अग्नि में आहुति प्रदान कर रहा हूँ । मन संकल्प, विकल्प, संशययुक्त रहता है । चित्त निश्चयात्मक स्थिति है । योग के लिए मन को आहुति चित्त को अग्नि में डालकर योगी मन को संकल्प-विकल्पशून्य बनाकर चित्त के रूप में निश्चयात्मक ज्ञान में स्थिर करता है, जिससे वह धारणा, ध्यान, समाधि की स्थिति प्राप्त करता है ।

मानस यज्ञ करने वाला योगी मन को जब चित्त में विलीन कर देता है, तो योगदर्शन के शब्दों में 'तस्य प्रशान्तवाहिता वृत्तिः संस्कारात्' । (विभूतिपाद, सूत्र १०) निरोध संस्कार से चित्त की शान्त प्रवाह वाली गति होती है, जिससे चित्त में सम्प्रज्ञात समाधि का परिणाम होने लगता है ।

मन और चित्त के इस प्रकार निर्माण हो जाने पर योगी जब अपने मन एवं चित्त को अन्य के मन और चित्त में आहुत कर देता है अर्थात् प्रवेश कर देता है, वह दूसरे के मन एवं चित्त का भी ज्ञान प्राप्त कर लेने की स्थिति में हो जाता है । यही रहस्य योगदर्शन के 'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्' । (विभूतिपाद सूत्र १९) इस सूत्र में प्रकट किया गया है और इसी चित्त के आश्रय से ही अनेक सिद्धियाँ योगी को प्राप्त होने लगती हैं ।

आन्तरिक अग्नियों में यज्ञ

आन्तरिक अग्नियों की साधना के लिए वेद ने योगयज्ञ के अनुष्ठान का उपदेश दिया है । इन अग्नियों का वर्णन करते हुए वेद ने कहा है :—

सप्त ते ऽग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्त ऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि । सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा ।।

(यजु० अ० १७ । मं० ७९)

शरीर के अन्दर निवास करने वाली अग्नि की सात समिधाएँ हैं, जिनसे यह प्रदीप्त हो रही है। अग्नि की पृथक्-पृथक् समिधाएँ होने से उसकी ज्वाला रूपी जिह्वा, रसास्वादन करने की वृत्तियाँ भी सात प्रकार की हैं। इनके सप्त प्रकार के आश्रय स्थान हैं। सात प्रकार के होतागण इनमें यजन कर रहे हैं। इस कारण सात इसके कारणस्थान हैं।

यद्यपि शरीर में सप्त धातुओं की सात प्रकार की अग्नि है और रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्रादि यही उसकी समिधा हैं। इनकी क्रियाशीलता ही जिह्वा है। इनमें ही अग्नियों का निवास होने से ये इसके प्रिय धाम हैं और ये ही इन अग्नियों की योनि भी हैं और ये ही सप्त होता बनकर एक के बाद दूसरी अग्नि में अपनी आहुति दे रहे हैं।

इसी प्रकार शरीर में सप्त प्राण भी हैं, वे भी इस शरीर में समिधा जिह्वा, ऋषि, होता आदि बनकर कार्य कर रहे हैं। अनेक रूप से इस मन्त्र का स्वरूप शरीरयज्ञ पर घटित होता है। परन्तु योगयज्ञ को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए शरीर के अन्दर रहस्यपूर्वक निहित सप्त समिधा, सप्तऋषि, सप्त होताओं को घृत बनाकर आहुति देने का निम्न मन्त्र में वर्णन किया है।

(१) आकूतिमग्निं प्रयुज ँ स्वाहा ।
(२) मनो मेधामग्निं प्रयुज ँ स्वाहा ।
(३) चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुज ँ स्वाहा ।
(४) वाचो विधृतिमग्निं प्रयुज ँ स्वाहा ।
(५) प्रजापतये मनवे स्वाहा ।
(६) अग्नये वैश्वानराय स्वाहा ।।

(यजु० अ० ११ । मं० ६६)

अर्थात् योगयज्ञ का अनुष्ठान करने वाले को प्रथम अपनी संकल्प-

रूपी अग्नि को जाग्रत् करना होगा कि मैं इस योगरूपी यज्ञ की अग्नि का अनुष्ठान करूँगा, ऐसी दृढ़ संकल्पमयी भावना से अग्नि को जाग्रत् करके उसमें आहुति देनी चाहिए। उसे प्रबुद्ध करना चाहिए उसके प्रबुद्ध करने पर उसकी विविध प्रकार की ज्वालाएँ प्रकट करनी चाहिएं। सात प्रकार की ज्वालारूप जिह्वा से इस संकल्प में जो विरोधी संकल्प या वृत्तियाँ हैं, उन्हें इस आकूति अग्नि की सप्त ज्वालाओं में सप्त ईंधन के रूप में भस्मीभूत कर देना चाहिए।

इस आरंभिक आकूति अग्नि को नष्ट करने के लिए व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति और अनवस्थितत्वरूपी सात विघ्न प्रारम्भ में होते हैं। भ्रान्तिदर्शक और अलब्धभूमिकत्व ये दो विघ्न तो आगे उपस्थित होते हैं। अतः इन सातों को समिधा बनाकर उनको निःशेष कर देना चाहिए। व्याधि आदि अन्तरायों को भस्म करने के लिए आकूति अग्नि को भी सात प्रकार की ज्वालाओं से नष्ट करना होगा। सबके लिए एक समान तेज की आवश्यकता नहीं है। पृथक्-पृथक् बल व तेज (Voltage) का प्रयोग करना पड़ेगा।

यह प्रथम आकूति अग्नि प्राणों से सम्बन्धित है, अतः प्राणों को योग यज्ञ से सम्बन्धित करने के लिए स्वाहा अर्थात् प्रयुक्त करे। अर्थात् प्राणों को संकल्प में, मन के संकल्प विकल्पों को मेधारूपी अग्नि में, चित्त को प्राप्त ज्ञान की अग्नि में, वाणी को विधृति धारणारूपी अग्नि में, प्रजापति वृत्ति, मन्वादि कालवृत्ति और वैश्वानरवृत्ति को योगाग्नि में प्रयुक्त करना चाहिए।

इस प्रकार मानस यज्ञ का योगी योगयज्ञ करता है और वह सातों अग्नियों का उनकी समिधाओं का, उनके ऋषियों का, उनके स्थानों का, उनकी जिह्वा का और उनके योनियों का क्रमशः अन्वेषण करके ज्ञान प्राप्त करता है तथा किस अग्नि में कौन-सी समिधा की आहुति देनी है, किस होता द्वारा किस स्थान में देनी है, यह सब ज्ञान प्राप्त करके अपने योगविघ्नों को दूर कर उन्नति प्राप्त करता है।

जब योगी इस प्रकार योगयुक्त होता है,

सं ते मनो मनसः सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्।

हे योगी, तेरा मन तेरे गुरु के मन के अनुसार और तेरा प्राण भी

उसके अनुकूल गति करे अथवा साधक का मन और प्राण दिव्य मन और प्राण के साथ संयुक्त हों। इस प्रकार योगी अपने साधना के गुरु के सान्निध्य से या अपने अभ्यास से प्राण और मन को दिव्य बना सकता है।

प्राणों की साधना से ज्ञान का उदय

प्राणायामादि द्वारा सत्यज्ञान की ज्योति का उदय होता है और अज्ञानान्धकार का नाश होता है। इस ज्योति के उदय से सत्-असत् का, सूक्ष्म-स्थूल का, संभूति-असंभूति का, विद्या और अविद्या का, प्रकृति और पुरुष का, ब्रह्म और माया का अर्थात् उभय पक्ष का ज्ञान योगी को होता है। योगदर्शन में इस स्थिति को निम्न सूत्रों से वर्णित किया है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (साधनपाद सूत्र ५२)
योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥
(साधनपाद सूत्र २८)

वेद ने इसी मार्ग का दर्शन निम्न मन्त्र में किया है :—

प्राणा शिशुर्महीनां॑ हिन्वन्नृतस्य दीधितिम्।
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता॥
(सामवेद मं० १०१३)

अपूर्व अद्भुत् महान् शक्तियों का शिशुरूप प्राण परम सत्य की किरण, ज्योति या प्रकाश को साधक में प्रेरित करके समस्त प्रिय, ज्ञातव्य पदार्थों को ज्ञान के उभय पक्षों के दर्शन के लिए व्याप्त कर लेता है।

संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उनका दर्शन प्राण की शक्ति से ही हो रहा है। सामान्यरूप से जो भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह ऐन्द्रियिक ज्ञान है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष पर आश्रित है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त वस्तु का परोक्ष ज्ञान भी है, जो इन्द्रियातीत है। यह परोक्ष ज्ञान प्राण एवं मन की विशेष स्थितियों से होता है। अतः प्राण की सामान्य प्रवाहित धारा के आश्रित ज्ञान और प्राण की विशिष्ट धारा के आश्रित परोक्ष ज्ञान या अन्तर्मुख वृत्तिपूर्वक ज्ञान ये प्राण

के प्रकाश के द्विविध क्षेत्र हैं, जिनका मन्त्र में संकेत है। प्राणायाम के अभ्यास से अन्तर्मुख क्षेत्र का और बाह्य क्षेत्र का सत्य ज्ञान प्रकट होता है अर्थात् नित्य ज्ञान में प्रवेश होता है।

पर्वतों एवं नदी संगमों का महत्त्व

योग साधन में पर्वतों का अत्यन्त महत्त्व है। इस विस्तृत भू-भाग पर पर्वतों के शिखर, पर्वतों की गुफाएँ, पर्वतों के निकट का प्रदेश, नदियों का संगम योगयज्ञ के अनुकल स्थान है। योगयज्ञ का अनुष्ठाता विप्र ऐसे प्रदेशों को शरीर की वेदी में बुद्धि द्वारा यथा-स्थान अरोपित करके तथा उन्हें सुनिश्चित करके योगयज्ञ को अपने में उत्पन्न करते हैं, जैसा कि निम्न मन्त्र में उपदेश है।

उपह्वरे गिरीणाँ सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो ऽअजायत॥

(यजुर्वेद अ० २६। मं० १५)

अर्थात् योगयज्ञ का अनुष्ठाता पर्वतों की उपत्यकाओं, नदी के संगम में जब अपनी साधना प्रारम्भ करता है, तो वह विप्र, मेधावी-जन योगयज्ञ के लिए श्रद्धारूप सोम एवं आत्मज्ञानरूपी ज्योति को प्रकट करता है।

यद्यपि पर्वत की उपत्यकाएँ, पर्वत, नदी, संगम आदि स्थान इस भूमि पर बाह्य प्रदेश में हैं और उन स्थानों की दिव्यता से परमात्मा की रचना के प्रति योगी का मन आकृष्ट होकर अन्तर्मुख होने से परमात्मा की प्राप्ति में लग जाता है। परन्तु अन्तर्मुख होकर जब वह शरीर के अन्दर स्थित पर्वतों की उपत्यकाओं से उनके शिखरों पर चढ़ता जाता है तो पूर्व मन्त्र में वर्णित स्थितियों को प्राप्त करता है। इन पर्वतों से अनेक नदियों का उद्गम है। अर्थात् इन मेरुदण्ड के सुमेरुओं से अनेक नाड़ियाँ निकलती हैं जिनमें सुषुम्णा का प्रवाह अन्य नाड़ियों रूपी नदियों में प्रवाहित होता है और उन नाड़ियों के जो संगमरूप समूह गुच्छे हैं, वे नाड़िकेन्द्र योगविद्या में कमल चक्र आदि संज्ञक हैं। उन शरीरान्तर्गत संगम में तथा पर्वतों में जब योगी अपने मन एवं प्राण को प्रवेश करता है तो उसे अद्भुत मेधा प्रकट

होती है ।

संगम में स्नान से मोक्ष प्राप्ति

इसी में से एक स्थिति को एक मन्त्र में निम्न प्रकार कहा है :—

सितासिते सरिते यत्र संगथे तत्राऽऽप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते ॥

(ऋग्वेद परिशिष्ट)

श्वेतवर्ण एवं कृष्णवर्ण की नदियाँ जहाँ मिलती हैं उसमें डुबकी लगाने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है । जो वीर पुरुष ऐसे संगम में अपने शरीर को त्यागते हैं वे विद्वान् मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

संगम का रहस्य

बाह्य कर्मकाण्ड आन्तरिक यज्ञ का ही रूप है । शरीर के भीतर श्वेत एवं कृष्णवर्ण की नदियाँ इडा और पिंगला, सूर्य एवं चन्द्र नाड़ियाँ हैं, जिन से प्राण की धारा शरीर में प्रवाहित होती रहती है । इन नदियों का संगम दोनों नेत्रों के मध्य के भाग में नासिका द्वार के ऊपर ही है । यहाँ पर ध्यान रूपी डुबकी लगाने से योगी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है और जो कोई योगीजन इस संगम के मध्य से प्राणों को सहस्रारचक्र में प्रवेश कराके प्राण त्यागता है, उसे मोक्षपद प्राप्त होता है ।

वास्तविक स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति आन्तरिक साधना के संगम स्थान एवं सुमेरु पर आरोहण से होती है । इसी रहस्य को हृदयंगम करने के लिए लोग श्वेत एवं कृष्ण वर्ण की जलधारा वाली गंगा एवं यमुना नदियों के संगम त्रिवेणी में मोक्ष के लिए स्नान करने जाते हैं । हरिद्वार, बदरीनाथ, केदारनाथ, मानसरोवर आदि पर्वतों के स्थानों, नदियों के उद्गम स्थानों, गंगोत्री, यमुनोत्री, अमरकंटकादि स्थानों पर जाते हैं ।

परन्तु वास्तव में इनका फल अन्दर की साधना से है। अतः ज्ञानी जन इन सब स्थानों का अन्दर में ही निश्चय करके उन-उन स्थानों में ध्यान करते हैं और उनके फलों को प्राप्त करते हैं ।

जीवन पर्यन्त योगयज्ञ

योगी का ऐसा यज्ञ जीवन में चलता रहता है जैसा कि वेद ने कहा है—

ऋतवस्ते यज्ञं वि तन्वन्तु मासा रक्षन्तु ते हविः ।
संवत्सरस्ते यज्ञं दधातु नः प्रजां च परि पातु नः ।।

(यजु० अ० २६ । मं० १४)

हे योगी ! तेरा जो योगयज्ञ है उसे ऋतुएं विस्तृत करें । चैत्रादि मास तेरे योगयज्ञ की हवि की रक्षा करें । योगी के यज्ञ को संवत्सर-वर्ष भी धारण करे । इस प्रकार योगी के यज्ञ से हमारे प्रजाओं की रक्षा होती है ।

योगी का सर्वतोधार यज्ञ

योगियों के हमारे मध्य में रहने से हमारी सन्तानों की अनेक प्रकार से रक्षा होती है । उन्हें सन्मार्ग पर चलने का उपदेश और क्रियात्मक पथ प्रदर्शन उनसे ही प्राप्त होता है ।

जो इस प्रकार योगयज्ञ में लगे रहते हैं वे

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आऽद्याँ रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारँ सु विद्वाँ सो वितेनिरे ।।

(यजु० अ० १७ । मं० ६८)

उत्तम विद्वान् अपने शरीर रूपी योगयज्ञ से समस्त विश्व में जिसकी ज्ञानधाराएँ प्रस्फुटित हो रही हैं एवं विश्व का पालन-पोषण रूप कार्य परमात्मा के जिन नियमों से होता है, ऐसे विश्वतोधार यज्ञ को विशेष रूप से करते हैं । उससे वे योगीजन स्वर्ग को, आदित्य-मण्डल को, दिव्य तेज या दिव्य ज्योति एवं मोक्ष को प्राप्त करते हैं । समस्त सांसारिक कामनाओं से रहित होकर वे योगीजन जरा मृत्यु, शोकादि से रहित द्युलोक को प्राप्त होते हैं ।

इस मन्त्र में द्युलोक, स्वर्ग आदि स्थानों का जो वर्णन है वह भी आध्यात्मिक है । शरीर में शिरभाग द्युस्थानीय है । वहीं स्वर्ग है । योगी इसी स्वर्ग में बैठकर आनन्द को प्राप्ति करता है । वेद ने

योग यज्ञ में प्राण के मार्ग को अमृत का माग कहा है।

अमृत मार्ग

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था ऽअमृतो ग्रहाभ्याम् ।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि ॥

(यजु० अ० १९। मं० ९०)

इस मन्त्र में नासिका में पराक्रम, बल, जीवन के लिए अवि और मेष की स्थिति से प्राण का अमृत मार्ग है, यह बताया है। प्राण के मार्ग में एक ओर अवि और दूसरी ओर मेष शक्ति है। अवि का अर्थ सूर्य है और मेष ज्योतिश्चक्र का एक अंश है। इस प्रकार मेष से सूर्य की अंश रूप ज्योति से प्रकाशित चन्द्र की स्थिति है। अर्थात् नासिका में एक ओर तो सूर्य शक्ति युक्त प्राण का प्रवाह चलता है और दूसरी तरफ चन्द्रमा शक्तियुक्त प्राण का प्रवाह चलता है। वेद में जो अवि और मेष प्राण हैं वे ही योग के तन्त्र-शास्त्रों में सूर्य चन्द्र स्वर या सूर्य चन्द्र नाड़ियाँ हैं। इन्हीं को योग-तन्त्र में यमुना और गंगा कहा है।

प्रयागराज

गंगा-यमुना के संगम में तीसरी नदी अदृष्ट रूप से सरस्वती मानी जाती है, अतः त्रिवेणी का संगम प्रयागराज तीर्थ है। शरीर में इडा नाड़ी ही गंगा है, चन्द्र है और पिगंला नाड़ी यमुना है, सूर्य है। इनके मध्य भाग में सुषुम्णा है, जिसे सरस्वती कहा जाता है। इन तीनों का संगम आज्ञाचक्र में दोनों भुवों के मध्य में है, अतः यह त्रिवेणी स्थान है, प्रयागराज है। इस प्रयागराज में ध्यान या समाधि लगाने से योगी के पुण्यों का उदय होता है और मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। प्रयाग का तात्पर्य है जिसमें विशेष रूप से यज्ञ होते हैं, उनमें भी जो मूर्धन्य, श्रेष्ठ स्थान है, वह प्रयागराज संज्ञक है। अतः ध्यान का—योगयज्ञ का यह आज्ञाचक्र उत्तम स्थान है।

मूर्धा में ज्योति का दर्शन

समाधिमार्ग से योगी अपने शरीर के द्युस्थानी शिर भाग में प्राण को ले जाकर परमात्मा का दर्शन प्राप्त करते हैं। वेद इसे मन्त्र में निम्न प्रकार वर्णित कर रहा है—

मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत ऽआ जातमग्निम्।
कवि॑ᳫ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥

(यजु० अ० ७। मं० २४)

योगी के शरीर की इन्द्रियाँ देव रूप हो जाने से वे जो इस शरीर में यज्ञ करती हैं, उनसे, प्राण की आहुति से ब्रह्म ज्ञान की अग्नि को शिर के मूर्द्धा स्थान में, उसी को पात्र बनाकर एवं उसको अपना मुख रूप बनाकर प्रकट करती हैं। अर्थात् उस ब्रह्मज्ञान को शिर में इन्द्रियादि देव निष्पन्न करके अमृत भाग को प्राप्त करते हैं। यह अग्नि जो शिर के भी मूर्द्धा सहस्रारचक्र में देदीप्यमान होती है, वह कवि, सम्राट्, अतिथि आदि विशेषणयुक्त है।

ब्रह्म का गुहा में दर्शन

योगयुक्त, विद्वान्, वीर पुरुष इस ज्योति का दर्शन करता है। इसका वर्णन वेद की निम्न ऋचा कर रही है :—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निद॑ᳫ सं च वि चैति सर्व॑ᳫ स ओतः प्रोतश्च
विभूः प्रजासु॥

(यजु० अ० ३२ मं० ८)

योगयुक्त विद्वान् शरीर की गुहाओं में विभिन्न शक्तियों से युक्त उस तत् पदवाच्य ब्रह्म को देखता है अर्थात् उसको जानता है। शरीर की गुहाओं में वह सब के अन्दर सदा जानने योग्य स्थिति में दृश्यरूप में विराजमान है। वही वास्तव में अनादि, सर्वशक्तिमान् सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, जिसके अन्दर इसी विशाल ब्रह्माण्ड के पदार्थ एक दूसरे से सन्निविष्ट होकर एक महान् सृष्टियज्ञ का संचालन कर रहे हैं। उसी महतो महीयान् के गर्भ में यह विशाल ब्रह्माण्ड आश्रय

प्राप्त किए हुए है। प्रलयावस्था में भी उसी में समाविष्ट हो जाता है। वही सर्व व्यापक परब्रह्म सर्वत्र ओतप्रोत है।

ब्रह्मज्ञानी की स्थिति

ब्रह्मज्ञानी उस स्थिति में ब्रह्म का ही प्रवचन करता है, जैसा कि निम्न वेद मन्त्र में कहा है :

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥

(यजु० अ० ३२। मं० ९)

वेदवाणी का धारण एवं चिन्तन करने वाला, वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी योगाभ्यास रत, समाधि निर्धूतमल चेतस विद्वान् उस ब्रह्म का उपदेश करता है, जो गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं ब्रह्म है। जो अमृतरूप, शाश्वत एवं अनश्वर है तथा जो अत्यन्त गूढ़ अप्रकट होते हुए भी संसार की स्थिति रचना एवं प्रलय आदि का कर्त्ता है, जिसके तीन स्वरूपों का दर्शन ब्रह्मज्ञानी ही कर पाते हैं। वह इस विश्व गुहा में तथा शरीर में छिपा हुआ है। उसी के द्वारा सर्ग, स्थिति, प्रलय, ऋग्यजुः साम, भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान आदि कार्य होते हैं। इन सबका कर्त्ता होते हुए भी वह गुप्त ही रहता है। यह स्थिति उसी दशा में हो पाती है, जब वह ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' हो जाता है। उसी को मन्त्र में 'स पितुः पितासत्' पिता का भी पिता, 'गुरु का भी गुरु' 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' तक पहुँच जाता है। और उस दशा में—

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः॥

(यजु० अ० १३। मं० ५)

ब्रह्म ज्योति या ब्रह्मानन्द रस उस समय उस योगी के मूर्द्धारूपी द्युलोक, अधोभागरूपी पृथिवीलोक और कारणरूप नाभि प्रदेश तथा अन्तरिक्ष स्थानीय पूर्ण मध्यभाग को अपनी दीप्ति एवं आनन्दरस से व्याप्त एवं सिंचित कर देता है। यह स्थिति आनन्द की होती है। जब सब ओर से सब स्थानों में इस शरीर रूपी ब्रह्माण्ड में उस तेजो-

मय परम पुरुष का उदय शरीर के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर. अधः ऊर्ध्व एवं मध्य इन सातों दिशाओं से होता है और उसका आनन्द रस सब ओर से प्राप्त होता है तथा उसमें योगी की ध्यान रूपी आहुति पड़ती जाती है। और उससे उस द्रप्सः—आनन्द एवं आदित्य की भी सप्त दिशा रूप होताओं से उस योगी में आहुति पड़ती रहती है। इस प्रकार योगी की समाधि का आनन्द बढ़ता ही चला जाता है। उस समय वह योगी कहता है :—

ब्रह्मनिष्ठ का उपदेश

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता ऽआपः स प्रजापतिः ॥
एषो ह देवः प्रादशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स ऽ उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

(यजु० अ० ३२ । मं० १, ४)

जिस सच्चिदानन्दमय ब्रह्म का मैं अपने अन्दर दर्शन कर रहा हूं, वह सब का कारण ब्रह्म है, वही कार्य जगत् की अग्नि में है, वही इस आदित्य में है, वही वायुरूप में बह रहा है, वही चन्द्रमारूप से आह्लाददायक रूप में प्रकाशित हो रहा है। वही परम शुद्ध, सर्वत्र व्याप्त, सर्वतो महान् और सब प्रजाओं का स्वामी है।

यही देव अखिल ब्रह्माण्ड में अनेक रूपों में, सब दिशा-विदिशाओं में अनुकूलता से व्याप्त होकर अन्तःकरण के बीच प्रथम कल्प के आदि में भी प्रसिद्ध रूप से प्रकटता को प्राप्त हुआ। पूर्व योगियों ने भी इसी को इसी प्रकार अनुभूत किया था और आगे भी कल्पों में यह इसी प्रकार प्रसिद्धि को प्राप्त होगा। हे मनुष्यो ! यह ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है और यह सर्वतोमुख रूप अर्थात् मुखादि अवयवों की शक्ति उसकी सर्वत्र है। अतः वही उपासनीय है।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।

(यजु० अ० ३२ । मं० २)

उस महामहिम, महाप्रथितयशवान् की कोई प्रतिमा नहीं है।

हम उसका प्रतिरूप कैसे बना सकते हैं ? यदि हम उसकी प्रतिमा बना लेते हैं तो वह हमारी ज्ञान परिधि, कर्म परिधि एवं काल परिधि में आ जाता है। परन्तु वह तो हमारी सब परिधियों से भी बाहर है। अतः उसकी प्रतिमा नहीं हो सकती। काल उसे बाँध नहीं सकता, क्योंकि—

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥

(यजु० अ० ३२। मं० २)

हे मनुष्यो ! जिस विशेष प्रकाशमान पूर्ण परमात्मा से सब निमेष कला, काष्ठादि काल के अवयव उत्पन्न होते हैं, उस परमात्मा को कोई भी ऊपर, मध्य या इतस्ततः दिशाओं से ग्रहण नहीं कर सकता। अतः उस कालातीत को प्रतिमारूप से कालबद्ध करना भी संगत नहीं होता। वह तो—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥

(यजु० अ० ३२। मं० ११)

सब प्राणियों को सब ओर से व्याप्त होके, पृथिवी तथा सूर्यादि लोकों को सब ओर से व्याप्त होके और ऊपर-नीचे सब आग्नेयादि उपदिशा तथा पूर्वादि दिशाओं को सब ओर से व्याप्त होके सत्य के स्वरूप वा अधिष्ठान को सम्मुखता से सम्यक् प्रवेश करता है। उसकी प्रथम प्रकट हुई वेदवाणी का अध्ययन कर सत् स्वरूप परमात्मा को आत्मा से प्राप्त होओ।

इसी प्रकार उस ब्रह्म के लिए वेद निम्न मन्त्रों में वर्णन कर रहा है :—

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥

(यजु० अ० ३२। मं० १२)

वह परमेश्वर द्यावापृथिवी में व्याप्त होकर, लोकलोकान्तरों में व्याप्त होकर, दिग्दिगन्तरों में व्याप्त होकर, आदित्यमण्डल में

व्याप्त होकर सत्य तत्त्व (प्रकृति) के विस्तृत तन्तुजाल को ग्रथित कर उसे देखता है। वह उसका स्वामी है तथा वही उसका स्वामी था और वही स्वामी रहेगा भी।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजु० अ० २५। मं० १०)

सूर्यादि ज्योतिष्पिण्ड उसके अन्दर गर्भवत् हैं, वही जगदीश्वर इस सृष्टि के पूर्व वर्त्तमान था। वही उत्पन्न हुए जगत् का प्रसिद्ध स्वामी एवं पालनकर्त्ता है। उसने अन्तरिक्ष को, द्युलोक को तथा इस पृथिवी लोक को धारण किया हुआ है। अतएव उस प्रजापति, सुखस्वरूप परमात्मा के लिए हम विशेष भक्तिपूर्वक आत्मसमर्पण द्वारा उपासना किया करें।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
यऽ ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजु० अ० २५। म० ११)

जो परमेश्वर जीवन एवं गति धारण करने वाले जगत् का महिमा से एकमात्र राजा है, जो परमेश्वर इन द्विपाद तथा चतुष्पाद आदि सबका स्वामी है, उस सुखस्वरूप परमेश्वर के लिए हम विशेष भक्तिपूर्वक आत्म-समर्पण द्वारा उपासना करें।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रँ रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजु० अ० २५। मं० १२)

जिसकी महिमा को अपनी महिमा से हिमवाले पर्वत तथा ये नदी सहित समुद्र भी वर्णन करते हैं, इसी प्रकार जिसकी ये दिशाएँ और उपदिशाएँ भुजाओं के तुल्य हैं, उस देव प्रजापति की हम अत्यन्त श्रद्धापूर्वक भक्ति करें।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजु० अ० २५ मं० १३)

जो आत्मज्ञान एवं बल का देने वाला है, सकल विश्व जिसकी प्रशंसा करता है, जिसके शासन में सब दिव्य शक्तियां हैं, जिसका आश्रय अमृत और मृत्यु है, उस देव प्रजापति की हम आत्मसमर्पण द्वारा उपासना करते हैं।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(यजु० अ० ३२। मं० ६)

जिसने द्युलोक को तेजोमय किया तथा पृथिवी को दृढ़ किया, जिसने आदित्य मण्डल धारण किया हुआ है, जिसने मोक्ष को धारण किया है, जो अन्तरिक्ष में लोकलोकान्तरों का निर्माण करने वाला है, उस प्रजापति परमेश्वर की हम भक्तिभाव से उपासना करें।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(यजु० अ० ३२। मं० ७)

परस्पर आह्वान करती हुई रक्षणा क्रिया से परस्पर बंधी हुई तथा ईश्वरीय विज्ञान से परस्पर कंपित होती हुई द्यावा पृथिवी जिसे लक्ष्य करती है, जिसके अधिकार में सूर्य उदित होकर भासित हो रहा है, उस प्रजापति की हम भक्ति भावना से उपासना करें।

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवाना ँ समवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(यजु० अ० २७। मं० २५)

जब महती जल तन्मात्राएँ या परमाणु धाराएँ बीजरूप जगत् कारण को धारण करती हुई, अग्निपुंज को प्रकट करती हुई संसार में व्यक्त रूप में आईं, तब देवों में एक प्राणस्वरूप जगदीश्वर वर्त्तमान था। उस सुखस्वरूप प्रजापति देव की हम भक्तिभाव से उपासना करें।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देवऽएक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(यजु० अ० २७। मं० २६)

और जो जगदीश्वर अपनी महिमा से बल को धारण करता हुआ तथा सृष्टि यज्ञ को व्यक्त करता हुआ जल तन्मात्राओं या परमाणुव्याप्तियों को साक्षी रूप से देखता है। जो देवों में सर्वोपरि विराजमान है उस सुख स्वरूप प्रजापति देव की हम भक्ति भाव से उपासना करें।

मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानट्। यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(यजु० अ० १२। मं० १०२)

जो ईश्वर भूलोक का उत्पन्न करने वाला है और जो सनातन नियमों वाला द्युलोक को व्याप्त करता है और अग्नि, जल, वायु एवं चन्द्रादि लोकों को जिसने उत्पन्न किया है, उस दिव्य गुणयुक्त प्रजापति को हम भक्तिभाव से उपासना करते हैं।

इस प्रकार अनेक मन्त्रों में उस परमात्मा के स्वरूप का वर्णन वेद में किया गया है, जिसे परमात्मा सृष्टि एवं जीव से भी पूर्व, सृष्टि का कर्त्ता, सृष्टि एवं जीव का भी स्वामी, सर्वत्र व्यापक, सर्व रचयिता, सर्वद्रष्टा उपास्य एवं प्राप्तव्य निर्धारित किया गया है। अतः परमात्मा की प्राप्ति के लिए हम सब को योग यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। यदि हम अपने जीवन में योग यज्ञ द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार नहीं करेंगे तो—'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'—महान् विनाश के पथ पर चलते हुए दुःख सागर में ही गोते लगाते रहेंगे और आत्म ज्ञान से विमुख रहकर घोर अन्धकार में अन्धे के समान भटकते रहेंगे।

—:o:—